इतिहास के उद्देश्य: अतीत की समझ से वर्तमान का निर्माण और भविष्य का मार्गदर्शन

प्रस्तावना: इतिहास का सार और आवश्यकता

इतिहास का अध्ययन केवल अतीत की घटनाओं के कालक्रमानुसार विवरण से कहीं अधिक है। यह एक गहरा, बहुआयामी और अनिवार्य अनुशासन है जो मानव सभ्यता के विकास, संस्थाओं के उद्गम और उनके वर्तमान स्वरूप पर प्रकाश डालता है[1]। 'इतिहास' शब्द स्वयं 'इति' और 'हास' से मिलकर बना है, जिसका अर्थ है 'ऐसा ही हुआ था'[3]। यह शब्द इस विषय की मूलभूत विश्वसनीयता और तथ्यात्मकता पर बल देता है। प्रसिद्ध दार्शनिक डॉ. राधाकृष्णन ने इतिहास को "राष्ट्र की स्मरणशक्ति" कहकर इसके महत्व को रेखांकित किया[2]। उनका मानना था कि जिस प्रकार किसी व्यक्ति के लिए उसकी स्मृति महत्वपूर्ण होती है, उसी प्रकार राष्ट्रों के लिए भी उनका इतिहास उनकी सामूहिक पहचान और निरंतरता को बनाए रखने के लिए अपरिहार्य है।

इतिहास का अध्ययन हमें वर्तमान की समस्याओं और परिस्थितियों को समझने में सहायता करता है, क्योंकि आज की अनेक चुनौतियाँ और सामाजिक संरचनाएं अतीत की परिस्थितियों का ही परिणाम हैं[2]। यह हमें मानव को मानव से परिचित कराता है, उसके विचारों, कार्यों और उसकी निर्मित संस्थाओं के उद्भव और विकास को स्पष्ट करता है[2]। इस प्रकार, इतिहास का प्राथमिक उद्देश्य केवल भूतकाल का लेखा-जोखा रखना नहीं, बल्कि उस लेखा-जोखा का उपयोग वर्तमान को समझने और भविष्य के लिए दिशा-निर्देश निर्धारित करने के लिए करना है।

भाग 1: इतिहास का दार्शनिक और सैद्धांतिक आधार

इतिहास: विज्ञान और कला का संगम

इतिहास के उद्देश्य को समझने के लिए सबसे पहले इसके सैद्धांतिक स्वरूप पर विचार करना आवश्यक है। विद्वानों के बीच यह एक चिरपरिचित बहस का विषय रहा है कि इतिहास को एक विज्ञान माना जाए या एक कला[2]। वैज्ञानिक दृष्टिकोण के समर्थक, जैसे कि प्रसिद्ध ब्रिटिश इतिहासकार ई.एच. कार, इतिहास को एक विज्ञान मानते हैं[8]। उनका तर्क है कि इतिहासकार वैज्ञानिक दृष्टिकोण और अन्वेषण की वैज्ञानिक विधियों का उपयोग करके तथ्यों का विश्लेषण करता है[2]। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "व्हाट इज हिस्ट्री?" में, कार ने उन आपत्तियों का खंडन किया है जो इतिहास को विज्ञान मानने के विरुद्ध हैं। वह तर्क देते हैं कि जिस प्रकार भौतिक विज्ञान में भी कोई दो पदार्थ पूरी तरह समान नहीं होते, उसी प्रकार इतिहास में भी विशिष्ट घटनाओं के अध्ययन के बावजूद सामान्यीकरण संभव है[8]। उनके अनुसार, इतिहास में कार्य-कारण संबंध, सिद्धांत और भविष्यवाणी की संभावनाएं होती हैं, जो इसे एक गंभीर वैज्ञानिक विषय बनाती हैं[8]।

इसके विपरीत, एक अन्य वर्ग इतिहास को कला के रूप में देखता है। इन विद्वानों का मानना है कि इतिहासकार को तथ्यों को एक जीवंत और समझने योग्य कथा में ढालने के लिए कल्पना शक्ति का उपयोग करना पड़ता है[2]। बेनेडेटो क्रोचे जैसे आदर्शवादी दार्शनिकों ने तो यहाँ तक कहा है कि इतिहासकार वैज्ञानिक से अधिक एक कलाकार होता है[9]। यह विज्ञान और कला का द्वंद्व वास्तव में एक विरोधाभास नहीं, बल्कि इतिहास के गहन उद्देश्य का सार है। एक इतिहासकार पहले वैज्ञानिक की तरह कठोर, अपरिवर्तनीय तथ्यों को इकट्ठा करता है, जैसे कि 1526 में पानीपत की लड़ाई हुई थी[8]। यह एक

वस्तुनिष्ठ और वैज्ञानिक प्रक्रिया है। इसके बाद, वह इन तथ्यों को एक सार्थक कथा में पिरोता है, यह समझाते हुए कि युद्ध क्यों हुआ, इसके क्या परिणाम हुए और इसने तत्कालीन समाज को कैसे प्रभावित किया[3]। यह एक व्याख्यात्मक और कलात्मक प्रक्रिया है, क्योंकि इतिहासकार अपनी पृष्ठभूमि, रुचि और दृष्टिकोण से पूरी तरह से मुक्त नहीं हो सकता[8]। इस प्रकार, इतिहास का उद्देश्य केवल तथ्यों को प्रस्तुत करना नहीं, बल्कि उन्हें मानव समझ के लिए प्रासंगिक और सुलभ बनाना है।

प्रमुख दार्शनिकों के परिप्रेक्ष्य

इतिहास के उद्देश्य की दार्शनिक समझ को विभिन्न विचारकों के दृष्टिकोणों से और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। जर्मन दार्शनिक हीगेल के लिए, इतिहास केवल घटनाओं का संग्रह नहीं है, बल्कि यह एक अंतर्निहित दिशा और उद्देश्य की ओर अग्रसर है। उनके अनुसार, "विश्व का इतिहास स्वातंत्र्य-चेतना के अलावा कुछ नहीं है"[3]। यह दृष्टिकोण दर्शाता है कि इतिहास का उद्देश्य स्वतंत्रता के परम विचार की प्रगति को समझना है, और मानवता इस विचार को मूर्त रूप देने का प्रयास करती है[9]।

इतालवी दार्शनिक बेनेडेटो क्रोचे का मानना था कि "सभी सत्य इतिहास है और सभी ज्ञान ऐतिहासिक ज्ञान है"[9]। क्रोचे के अनुसार, इतिहास वर्तमान की सच्चाई को प्रकट करता है जिसकी नींव अतीत में पड़ी थी। उनका यह विचार इस बात पर जोर देता है कि हमारा वर्तमान ज्ञान और हमारी वास्तविकता की समझ पूरी तरह से ऐतिहासिक है, यानी यह अतीत से अविभाज्य है। अरस्तू जैसे प्राचीन यूनानी दार्शनिकों ने इतिहास को राजनीति से जोड़ा। उनके दर्शन में, राज्य का उद्देश्य केवल जीवन की रक्षा करना नहीं, बल्कि एक 'आदर्श और श्रेष्ठ जीवन' की प्राप्ति सुनिश्चित करना है[11]। अरस्तू ने क्रांति के कारणों का विश्लेषण कर यह दिखाया कि इतिहास का अध्ययन शासन को बेहतर बनाने और राज्य को सुरक्षित रखने के लिए एक व्यावहारिक उपकरण के रूप में कार्य कर सकता है[11]।

ये दार्शनिक परिप्रेक्ष्य हमें यह बताते हैं कि इतिहास का उद्देश्य केवल 'क्या हुआ' का उत्तर देना नहीं है, बल्कि 'क्यों हुआ' और 'इसका क्या अर्थ है' जैसे गहरे प्रश्नों का उत्तर देना है। हीगेल का विचार यह दर्शाता है कि इतिहास का एक नैतिक और प्रगतिशील उद्देश्य है। क्रोचे का दृष्टिकोण इस बात पर बल देता है कि हमारी वर्तमान समझ और ज्ञान का आधार पूरी तरह से ऐतिहासिक है। वहीं, अरस्तू का विचार इतिहास के अध्ययन को एक व्यावहारिक, राजनीतिक उपकरण में बदल देता है जिसका उपयोग शासन को बेहतर बनाने और सामाजिक स्थिरता बनाए रखने के लिए किया जा सकता है। ये सभी दार्शनिक दृष्टिकोण इतिहास को ज्ञान की एक निष्क्रिय शाखा के बजाय एक सक्रिय, गतिशील और उद्देश्यपूर्ण अनुशासन के रूप में स्थापित करते हैं।

दार्शनिक	प्रमुख विचार	इतिहास के उद्देश्य पर दृष्टिकोण
हीगेल	इतिहास परम विचार (स्वतंत्रता) की प्रगति है।	इतिहास का उद्देश्य मानवता की स्वतंत्रता की ओर क्रमिक यात्रा को समझना।
बेनेडेटो क्रोचे	सभी ज्ञान ऐतिहासिक ज्ञान है; इतिहास एक कला है।	इतिहास का उद्देश्य वर्तमान की सच्चाई को प्रकट करना, जिसकी नींव अतीत में है।

ई.एच. कार	इतिहास इतिहासकार और तथ्यों के बीच का संवाद है; यह एक विज्ञान है।	इतिहास का उद्देश्य तथ्यों का वैज्ञानिक विश्लेषण कर अतीत और वर्तमान के बीच एक निरंतर संवाद स्थापित करना।
अरस्तू	राज्य का उद्देश्य 'श्रेष्ठ जीवन' की प्राप्ति है।	इतिहास का उद्देश्य राजनीतिक व्यवस्थाओं को समझना और क्रांति के कारणों का विश्लेषण कर राज्य को सुरक्षित रखना।

भाग 2: इतिहास के मूलभूत उद्देश्य: व्यक्ति, समाज और समय

अतीत, वर्तमान और भविष्य का त्रय-संबंध

इतिहास का सबसे महत्वपूर्ण उद्देश्य अतीत, वर्तमान और भविष्य के बीच एक सेतु का निर्माण करना है। इतिहास, अतीत की घटनाओं की व्याख्या करके हमें यह समझने में मदद करता है कि हमारा वर्तमान स्वरूप क्यों और कैसे बना [4]। वर्तमान की कई सामाजिक और राजनीतिक समस्याएं, जैसे कि भारत में जाति-आधारित असमानता या अमेरिका में नस्लीय तनाव, अतीत की परिस्थितियों और ऐतिहासिक घटनाओं से उत्पन्न हुई हैं [5]। इतिहास इन समस्याओं की जड़ों को उजागर करता है, जिससे उनके समाधान की दिशा में सार्थक प्रयास किए जा सकें।
इतिहास का एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य अतीत की गलतियों से सीख लेना और उन्हें दोहराने से बचना है [14]। यह एक सार्वभौमिक सबक है कि "जो लोग इतिहास नहीं जानते हैं, वे ऐतिहासिक गलतियों को दोहराकर बर्बाद होते हैं" [14]। उदाहरण के लिए, हिटलर ने नेपोलियन की इस गलती से कोई सबक नहीं लिया कि रूस पर सर्दियों में आक्रमण करना विनाशकारी होता है, और उसने भी उसी तरह की विफलता का सामना किया [15]। यह हमें बताता है कि इतिहास के अध्याय अतीत के लोगों द्वारा लिखे गए नोट्स की तरह हैं, जो हमें भविष्य के लिए मार्गदर्शन प्रदान करते हैं [14]। महान चीनी दार्शनिक कन्फ्यूशियस ने कहा था, "यदि तुम भविष्य को परिभाषित करना चाहते हो तो अतीत का अध्ययन करो" [17]। इतिहास की नींव पर वर्तमान का निर्माण और भविष्य की योजना बनाना, इसलिए, एक अनिवार्य और अटूट प्रक्रिया है [7]।
यह संबंध केवल रैखिक नहीं है, बल्कि एक अनवरत और गतिशील संवाद है [10]। ई.एच. कार का यह मानना कि इतिहास "अतीत और वर्तमान के बीच एक अंतहीन संवाद है" [10] इस संबंध की गहनता को दर्शाता है। इसका तात्पर्य यह है कि हम इतिहास को केवल निष्क्रिय रूप से नहीं पढ़ते हैं; हम सक्रिय रूप से अपने वर्तमान के दृष्टिकोणों और जिज्ञासाओं के साथ उससे संवाद करते हैं। हमारी आज की समस्याएं और प्रश्न ही हमें अतीत के नए पहलुओं को खोजने और उनकी पुनर्व्याख्या करने के लिए प्रेरित करते हैं [21]। यह दर्शाता है कि इतिहास कोई स्थिर, अपरिवर्तनीय विषय नहीं है, बल्कि यह लगातार पुनर्निर्मित और पुनर्व्याख्यायित होता रहता है।

मानव समाज, संस्कृति और सभ्यता को समझना

इतिहास का उद्देश्य केवल राजनीतिक घटनाओं और शासकों के बारे में जानकारी देना नहीं है, बल्कि यह मानव समाज, उसकी संस्कृति और सभ्यता के क्रमिक विकास को समझने का एक माध्यम भी है [3]। इतिहास हमें यह समझने में मदद करता है कि विभिन्न सभ्यताओं और समाजों की कला, साहित्य, धर्म और सामाजिक व्यवस्थाएं कैसे विकसित हुईं [22]। सामाजिक संरचना एक स्थिर अवधारणा नहीं है, बल्कि यह समय के साथ संस्कृति, प्रौद्योगिकी और ऐतिहासिक घटनाओं से प्रभावित होकर विकसित होती है [26]। सामाजिक इतिहास का अध्ययन हमें आम लोगों के दैनिक जीवन, उनके रीति-रिवाजों, रहन-सहन और मानसिकताओं को समझने का अवसर देता है [29]। यह हमें यह भी बताता है कि समाज का निर्माण करने वाली उप-संरचनाएं, जैसे कि परिवार, जाति, वर्ग और धर्म, कैसे बनती हैं और कैसे वे ऐतिहासिक घटनाओं को आकार देती हैं [26]।

एक समाज की संस्कृति उसकी विरासत और आध्यात्मिक शक्ति का द्योतक होती है, और इतिहास हमें उस संस्कृति के मूलभूत तत्वों की पहचान करने में मदद करता है जो हजारों वर्षों से निरंतर प्रवाहित हो रहे हैं [23]। इतिहास सामाजिक परिवर्तन की गति और दिशा को समझने में भी सहायक है [27]। यह दिखाता है कि कैसे समाज सरलता से जटिलता की ओर बढ़ता है, और कैसे विभिन्न कारक, जैसे औद्योगीकरण और शहरीकरण, परिवर्तन की दर को प्रभावित करते हैं [27]। इसके अतिरिक्त, इतिहास हमें यह भी बताता है कि सामाजिक संरचनाओं में संगठन और विघटन दोनों के तत्व मौजूद होते हैं [26]। इस प्रकार, इतिहास का उद्देश्य केवल बड़े ऐतिहासिक प्रवृत्तियों को समझना नहीं है, बल्कि यह आम व्यक्ति के जीवन, समाज के आंतरिक क्रिया-कलापों और सांस्कृतिक विकास को भी समझने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है [29]।

भाग 3: इतिहास के व्यावहारिक और सामाजिक उद्देश्य

राष्ट्रीय चेतना और पहचान का निर्माण

इतिहास का एक अत्यंत महत्वपूर्ण उद्देश्य राष्ट्रीय भावना और एकता को बढ़ावा देना है [4]। समान ऐतिहासिक परंपराएँ किसी जनसमूह में राष्ट्रीय एकता और सामूहिक कर्तव्य की भावना का संचार करती हैं [32]। यह राष्ट्र की स्मरणशक्ति के रूप में कार्य करता है, जो लोगों को उनके साझा अतीत और विरासत से जोड़ता है [2]। उदाहरण के लिए, भारतीय तिरंगे का इतिहास और उसके रंग और चक्र का प्रतीकवाद देश के साझा साहस, शांति और उर्वरता की कहानी कहते हैं [33]।

इतिहास राष्ट्रवाद को एक ऐतिहासिक प्रक्रिया के रूप में समझने में सहायक होता है, जिसके माध्यम से राष्ट्रीयताएँ राजनीतिक इकाइयों में रूपांतरित होती हैं [32]। राष्ट्रवाद एक आधुनिक अवधारणा है, और इतिहास इसे एक ऐतिहासिक आधार पर प्रमाणित करने का प्रयास करता है, जिससे इसे सशक्त बनाया जा सके [32]। हालांकि, यह भी समझना आवश्यक है कि इतिहास का उपयोग राष्ट्रीय पहचान को गढ़ने के लिए एक शक्तिशाली उपकरण के रूप में किया जाता है, और इसीलिए इसकी आलोचनात्मक जांच करना महत्वपूर्ण है [32]। भारतीय राष्ट्रवाद के इतिहास को औपनिवेशिक, राष्ट्रवादी, मार्क्सवादी और सबाल्टर्न जैसे विभिन्न परिप्रेक्ष्यों से देखा गया है, जो यह दर्शाता है कि इतिहास की व्याख्या बहुआयामी और विवादास्पद हो सकती है [32]।

राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं का समाधान

इतिहास हमें आधुनिक राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं को समझने में सहायता करता है[14]। यह राजनीतिक संस्थाओं के उद्गम, उनके विकास और पतन पर प्रकाश डालता है[2]। यह अनुशासन हमें सिखाता है कि अतीत की राजनीतिक विफलताओं से प्राप्त सबक हमें वर्तमान शासन और समाज को बेहतर बनाने के लिए रणनीतियाँ विकसित करने में मदद कर सकते हैं। राजा राम मोहन राय जैसे समाज सुधारकों के कार्य हमें सामाजिक कुरीतियों जैसे जाति प्रथा, बाल विवाह और सती प्रथा के इतिहास और उन्हें दूर करने के प्रयासों के बारे में सिखाते हैं[34]। उनके विचार, कि जाति प्रथा सामाजिक प्रगति में बाधक है, आज भी प्रासंगिक हैं। इसी प्रकार, महात्मा गांधी का यह विश्वास था कि स्वतंत्रता के लिए राजनीतिक आजादी के साथ-साथ बाल विवाह और छुआछूत जैसी सामाजिक बुराइयों से मुक्त होना भी आवश्यक है, जो एक महत्वपूर्ण सामाजिक सबक है[35]।

नैतिक और व्यक्तिगत विकास

इतिहास का उद्देश्य केवल सामूहिक ज्ञान तक सीमित नहीं है, बल्कि यह व्यक्ति के नैतिक और बौद्धिक विकास में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है[4]। यह हमें बुद्ध, महावीर, गांधी और मंडेला जैसे महान व्यक्तियों के जीवन से प्रेरणा लेने का अवसर देता है[14]। इन व्यक्तित्वों के आदर्श और कार्य हमें साहस, भाईचारा और त्याग जैसे गुण विकसित करने के लिए प्रेरित करते हैं[14]। इतिहास आत्म-बोध और आत्म-समझ को बढ़ावा देता है, क्योंकि यह हमें मानवीय प्रकृति के विभिन्न आयामों से अवगत कराता है[3]।

इसके अतिरिक्त, इतिहास आलोचनात्मक चिंतन, विवेकपूर्ण शक्ति और एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित करने के लिए पर्याप्त अवसर प्रदान करता है[4]। यह हमें सतही सोच से बचने में सहायता करता है और तथ्यों का उचित विश्लेषण कर निष्कर्ष निकालने की आदत का निर्माण करता है[4]। हालांकि, कुछ दार्शनिकों का यह मानना है कि व्यक्ति को अपने व्यक्तिगत अतीत से जुड़ी गलतियों और आसक्तियों से मुक्त होना सीखना चाहिए[37]। यह विचार इतिहास के अध्ययन के एक और सूक्ष्म उद्देश्य को उजागर करता है: आत्म-जागरूकता और मुक्ति की ओर मार्गदर्शन। यह सिखाता है कि भले ही इतिहास एक सामूहिक सबक है, व्यक्ति को अतीत के व्यक्तिगत बोझ से मुक्त होकर वर्तमान में जीना और आगे बढ़ना चाहिए।

भाग 4: केस स्टडीज और सबक: एक व्यावहारिक परिप्रेक्ष्य

इतिहास के उद्देश्य को ठोस उदाहरणों के माध्यम से और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। निम्नलिखित तालिका कुछ महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं और उनसे सीखे गए व्यावहारिक पाठों को प्रस्तुत करती है।

ऐतिहासिक घटना	घटना का विवरण	सीखे गए सबक
नेपोलियन का रूस पर	नेपोलियन बोनापार्ट ने 1812 में भारी सर्दियों और रूसी रणनीति की अनदेखी करके रूस पर आक्रमण	**रणनीतिक और सामरिक विफलता:** यह दिखाता है कि प्राकृतिक परिस्थितियों (जैसे सर्दी) और दुश्मन की रणनीति का

आक्रमण (1812)	करने का फैसला किया। फ्रांसीसी सेना को अपार क्षति का सामना करना पड़ा [16]।	मूल्यांकन करने में विफलता कैसे सैन्य शक्ति को कमजोर कर सकती है।
पानीपत का प्रथम युद्ध (1526)	बाबर ने इब्राहिम लोदी के खिलाफ तुलुगमा रणनीति का उपयोग किया और युद्ध जीत लिया, जबकि लोदी की सेना संख्या में अधिक थी [40]।	**रणनीति का महत्व:** संख्या बल से अधिक प्रभावी रणनीति और तकनीक का महत्व होता है। यह सिखाता है कि रचनात्मक सोच और नवाचार पारंपरिक तरीकों पर भारी पड़ सकते हैं।
टाइटैनिक का डूबना (1912)	टाइटैनिक जहाज को "अप्रत्याशित" मानकर, पर्याप्त जीवनरक्षक नौकाओं की उपेक्षा की गई और आइसबर्ग की चेतावनियों को नजरअंदाज किया गया [16]।	**अति-आत्मविश्वास और लापरवाही:** यह घटना अति-आत्मविश्वास और सुरक्षा मानकों की उपेक्षा के विनाशकारी परिणामों को दर्शाती है। यह सिखाती है कि तकनीकी प्रगति के साथ-साथ सावधानी और विवेक भी आवश्यक है।
राजा राम मोहन राय के समाज सुधार	उन्होंने सती प्रथा, जाति प्रथा और बाल विवाह जैसी सामाजिक कुरीतियों का जोरदार विरोध किया [34]।	**सामाजिक प्रगति:** यह दर्शाता है कि सामाजिक असमानता और अंधविश्वास किसी भी राष्ट्र की प्रगति में सबसे बड़ी बाधा होते हैं। राजनीतिक स्वतंत्रता से पहले सामाजिक सुधार आवश्यक है।

निष्कर्ष: एक अनिवार्य अनुशासन के रूप में इतिहास

इतिहास का उद्देश्य एक बहुआयामी और गतिशील अवधारणा है जो केवल तथ्यों के संकलन से कहीं आगे जाती है। यह अतीत के तथ्यों का रिकॉर्ड रखने के सूचनात्मक कार्य से शुरू होता है और वर्तमान की व्याख्या, राष्ट्रीय पहचान के निर्माण, सामाजिक समस्याओं के समाधान और व्यक्तिगत नैतिक विकास जैसे महत्वपूर्ण उद्देश्यों तक जाता है [4]।

यह एक ऐसा अनुशासन है जो हमें बताता है कि हम कौन हैं, हम कहाँ से आए हैं और हम कहाँ जा सकते हैं [2]। इतिहास का अध्ययन हमें हमारे वर्तमान को समझने में मदद करता है, क्योंकि आज की अनेक राजनीतिक और सामाजिक संरचनाएं, यहां तक कि लोगों के राजनीतिक विचार भी, अतीत की ऐतिहासिक घटनाओं से प्रभावित हैं [6]। यह हमें जीवन और शासन के लिए आवश्यक सबक सिखाता है, जैसा कि मोहम्मद बिन तुगलक की सांकेतिक मुद्रा की विफलता या नेपोलियन की रूस पर चढ़ाई जैसे उदाहरणों से स्पष्ट है [39]।

अंत में, इतिहास केवल ज्ञान का एक साधन मात्र नहीं, बल्कि एक अनिवार्य जीवन कौशल है, जो मनुष्य को परिपक्व, बुद्धिमान और अनुभवी बनाता है [7]। यह एक ऐसा अनुशासन है जिसे नजरअंदाज करने

वाले राष्ट्र का कोई भविष्य नहीं होता[7]। इसलिए, इतिहास की सुरक्षा और उसके अध्ययन को बढ़ावा देना हर समाज का परम कर्तव्य है।

राकेश मोहन नौटियाल

प्रारंभिक वैदिक और उत्तर वैदिक काल: राजनीति, समाज, अर्थव्यवस्था और धर्म पर एक शोध आलेख

खंड I: प्रस्तावना एवं कालानुक्रमिक पृष्ठभूमि

1.1. वैदिक सभ्यता का परिचय और द्वैत विभाजन

भारतीय इतिहास में वैदिक काल (लगभग 1500 ईसा पूर्व से 600 ईसा पूर्व) एक अत्यंत महत्वपूर्ण संक्रमण काल का प्रतिनिधित्व करता है। यह वह अवधि है जिसने सिंधु घाटी सभ्यता के पतन के बाद भारतीय उपमहाद्वीप में एक ग्रामीण, पशुचारणिक संस्कृति की स्थापना की और अंततः महाजनपदों के उदय और द्वितीय शहरीकरण का मार्ग प्रशस्त किया। इस पूरे सहस्राब्दी के दौरान, आर्य समुदाय ने अपनी जीवनशैली, सामाजिक संरचना और धार्मिक मान्यताओं में मौलिक परिवर्तन देखे।
वैदिक सभ्यता को समझने का प्राथमिक स्रोत श्रुति साहित्य है, जिसमें चार वेद—ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, और अथर्ववेद—तथा उनके अनुवर्ती ग्रंथ—ब्राह्मण, आरण्यक, और उपनिषद्—शामिल हैं [1]। ये साहित्यिक साक्ष्य दो स्पष्ट चरणों को उजागर करते हैं:

1. **प्रारंभिक या ऋग्वैदिक काल (1500-1000 ईसा पूर्व):** इस चरण की जानकारी केवल ऋग्वेद (सबसे प्राचीन वेद) से मिलती है [3]।
2. **उत्तर वैदिक काल (1000-600 ईसा पूर्व):** इस चरण का ज्ञान शेष तीनों वेदों (सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद) के साथ-साथ ब्राह्मण, आरण्यक, और उपनिषदों से प्राप्त होता है [3]।

साहित्यिक साक्ष्यों के अतिरिक्त, पुरातात्विक स्रोत भी महत्वपूर्ण हैं। इस काल के अंत में चित्रित धूसर मृद्भांड (Painted Grey Ware - PGW) और विशेष रूप से लोहे के प्रयोग के प्रमाण मिलने लगते हैं [5]। लोहे का तकनीकी विकास विशेष रूप से उत्तर वैदिक काल के गहरे, संरचनात्मक परिवर्तनों का भौतिक आधार बना।

1.2. भौगोलिक विस्तार: सप्तसिंधु से आर्यावर्त तक

वैदिक काल में हुए सभी प्रमुख परिवर्तनों की शुरुआत भौगोलिक विस्तार से हुई।
प्रारंभिक चरण: ऋग्वैदिक आर्यों का भौगोलिक केंद्र सप्तसिंधु प्रदेश था, जिसमें सिंधु नदी और उसकी सहायक नदियाँ (वर्तमान पंजाब और सीमावर्ती क्षेत्र) शामिल थे [3]। यह क्षेत्र पशुपालन के लिए आदर्श था, और उनका जीवन semi-nomadic प्रकृति का था।
उत्तर वैदिक चरण: उत्तर वैदिक काल में आर्यों का विस्तार पूर्व की ओर गंगा-यमुना दोआब की ओर हुआ [3]। इस विस्तार ने कुरु, पांचाल, कोसल और विदेह जैसे नए क्षेत्रीय राज्यों (जनपदों) को जन्म दिया। इस भौगोलिक बदलाव के पीछे सबसे बड़ी प्रेरणा लौह प्रौद्योगिकी का उपयोग था।
लोहे (जिसे उत्तर वैदिक ग्रंथों में *कृष्ण अयस* या *श्याम अयस्* कहा गया है [6]) के उपयोग ने आर्यों को घने गंगा-यमुना दोआब के जंगलों को साफ करने और कठोर मिट्टी को जोतने में सक्षम बनाया। इस तकनीकी प्रगति ने उन्हें पशुचारणिक जीवनशैली को छोड़कर स्थायी, कृषि-आधारित जीवनशैली अपनाने की ओर धकेल दिया [7]। यह स्थायीकरण ही वह मूलभूत भौतिक आधार था जिसने उत्तर वैदिक काल के राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक जटिलता को संभव बनाया। स्थायी कृषि से पर्याप्त उपज हुई, जिससे

गैर-उत्पादक समूहों (जैसे पुरोहित और राजा) का पोषण संभव हुआ, जो विकसित राजतंत्र और जटिल सामाजिक स्तरीकरण की अनिवार्य शर्त थी [7]।

खंड II: राजनीतिक संस्थाओं में परिवर्तन (जन से क्षेत्रीय जनपद तक)

2.1. प्रारंभिक वैदिक राजनीति: कबायली और समतावादी संरचना

प्रारंभिक वैदिक काल में राजनीतिक व्यवस्था मुख्य रूप से कबायली संगठन (*जन*) पर आधारित थी।
राजन की भूमिका: ऋग्वैदिक काल में राजन (राजा) का पद मुख्य रूप से वंशानुगत नहीं था; बल्कि उसका चुनाव *जन* के सदस्यों द्वारा किया जाता था [3]। राजन का मुख्य कार्य युद्ध में कबीले का नेतृत्व करना था, खासकर **गविष्टि** (गायों की खोज के लिए किए गए युद्ध) के संदर्भ में, क्योंकि गाय कबीले की मुख्य संपत्ति थी [3]। उसका शासन सीमित था, और वह अपनी शक्ति का प्रयोग जन की सहमति से करता था।
लोकतांत्रिक संस्थाओं का महत्व: राजन की शक्ति पर तीन प्रमुख कबीलाई संस्थाओं द्वारा नियंत्रण रखा जाता था:

1. **सभा:** यह वरिष्ठ नागरिकों या अभिजात वर्ग की एक सभा थी, जो गाँव के मामलों का प्रबंधन, न्यायिक कार्यवाही, और राजा के चुनाव में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती थी [3]।
2. **समिति:** यह सामान्य जनता की सभा थी, जो कबीले के महत्वपूर्ण मामलों (जैसे युद्ध, रक्षा, नीति निर्माण) पर विचार-विमर्श करती थी और राजा को सलाह देती थी [3]।
3. **विदथ:** यह सबसे प्राचीन कबीलाई संस्था थी, जिसका कार्यक्षेत्र सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सैन्य था। सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि *विदथ* लिंग भेद पर आधारित नहीं थी, और इसमें स्त्री-पुरुष मिलकर निर्णय लेते थे, जो इस काल की समतामूलक भावना को दर्शाता है [10]।

2.2. उत्तर वैदिक राजनीति: राजतंत्र का सुदृढ़ीकरण

भौगोलिक विस्तार और कृषि के स्थायीकरण के परिणामस्वरूप उत्तर वैदिक काल में राजनीतिक व्यवस्था में मौलिक परिवर्तन आए, जिसने कबायली संरचना को कमजोर किया।
जनपद का उदय और राजतंत्र का विकास: इस काल में कबायली *जन* क्षेत्रीय इकाई **जनपद** में विकसित हो गए [3]। राजा अब सैन्य नेता मात्र नहीं रहा, बल्कि एक क्षेत्रीय शासक बन गया। यह पद अधिकाधिक वंशानुगत हो गया और राजा की शक्ति में पर्याप्त वृद्धि हुई [3]। यह संक्रमण इस बात को स्पष्ट करता है कि जैसे-जैसे भूमि स्थायी और मूल्यवान संपत्ति बनी, कबीलाई निष्ठा की जगह क्षेत्रीय निष्ठा ने ले ली, जिससे केंद्रीकृत शासन की आवश्यकता बढ़ गई।
जनतांत्रिक संस्थाओं का ह्रास: उत्तर वैदिक काल में सभा और समिति जैसी लोकतांत्रिक संस्थाओं का महत्व घट गया [9]। राजा की शक्ति सीमित करने वाली संस्थाएँ कमजोर पड़ गईं [5]। *विदथ* जैसी संस्थाएँ, जहाँ सहकारिता की भावना से स्त्री-पुरुष सामूहिक निर्णय लेते थे, लगभग विलुप्त हो गईं, जो राजा के केंद्रीकृत नियंत्रण और सामाजिक स्तरीकरण की बढ़ती प्रवृत्ति को दर्शाता है [10]।
शाही प्रतिष्ठा और कर्मकांडीय वैधता: राजा ने अपनी बढ़ती हुई सत्ता को वैधता प्रदान करने के लिए पुरोहितों की सहायता से जटिल और वृहद् यज्ञों का आयोजन करना शुरू कर दिया। ये यज्ञ न केवल

राजनीतिक प्रदर्शन थे, बल्कि राजा को दैवीय और कर्मकांडीय श्रेष्ठता भी प्रदान करते थे। इनमें शामिल थे:

- **राजसूय यज्ञ:** यह राज्याभिषेक से संबंधित था, जो राजा की श्रेष्ठता और संप्रभुता स्थापित करता था।
- **अश्वमेध यज्ञ:** यह क्षेत्रीय प्रभुत्व और साम्राज्य विस्तार के लिए किया जाता था, जो राजा के महत्वाकांक्षी सैन्य विस्तार को दर्शाता है[12]।
- **वाजपेय यज्ञ:** शक्ति प्रदर्शन के लिए किया जाने वाला रथ दौड़ यज्ञ।

जब राजा की शक्ति पारंपरिक लोकतांत्रिक नियंत्रणों (जैसे सभा और समिति) से मुक्त हो गई, तो उसे अपनी सत्ता को बनाए रखने के लिए एक नए, उच्चतर स्रोत की आवश्यकता थी। जटिल और महंगे यज्ञों का प्रचलन पुरोहितों के साथ एक मजबूत क्षत्रिय-ब्राह्मण गठजोड़ का निर्माण करता था, जिसने राजतंत्र को दैवीय आधार प्रदान किया और उसे मजबूत किया[12]।

प्रशासनिक तंत्र का विकास: राजा को सहायता देने के लिए एक प्रारंभिक प्रशासनिक और नौकरशाही तंत्र विकसित हुआ। अधिकारियों में *पुरोहित* (मुख्य पुजारी/सलाहकार), *सेनानी* (सेना कमांडर), *ग्रामणी* (गाँव का प्रमुख), *भगदुगा* (राजस्व कलेक्टर), और *संगरीहित्री* (कोषाध्यक्ष) शामिल थे[11]। यह संगठित प्रशासन स्थायी राज्यों के प्रबंधन के लिए आवश्यक था।

भूमि पर अधिकार: *शतपथ ब्राह्मण* में भूमि के वितरण और स्वामित्व पर कानूनी चर्चाएं मिलती हैं[11]। हालांकि भूमि पर पूर्ण शाही स्वामित्व की विचारधारा पूरी तरह से विकसित नहीं हुई थी, यह चर्चा दर्शाती है कि गहन कृषि के कारण भूमि अब एक केंद्रीय, विवादित सामाजिक और आर्थिक संसाधन बन चुकी थी, जिसने आगामी महाजनपद काल के लिए कानूनी आधारशिला रखी।

खंड III: सामाजिक संरचना और स्तरीकरण (वर्ण व्यवस्था की कठोरता)

3.1. प्रारंभिक वैदिक समाज: लचीलापन और गतिशीलता

ऋग्वैदिक समाज मुख्य रूप से कबायली (जन) संगठन और अपेक्षाकृत समतामूलक प्रकृति का था।

वर्ण व्यवस्था का लचीलापन: वर्ण व्यवस्था (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) की अवधारणा मौजूद थी, जैसा कि ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में वर्णित है, लेकिन यह व्यवस्था कठोर रूप से जन्म पर आधारित नहीं थी। बल्कि, यह मुख्यतः व्यवसाय (*कर्म*) पर आधारित थी, और सामाजिक गतिशीलता संभव थी[3]। एक ही परिवार के सदस्य विभिन्न व्यवसाय अपना सकते थे, जिससे समाज में आंतरिक गतिशीलता बनी रहती थी।

स्त्रियों की उच्च स्थिति: प्रारंभिक वैदिक काल में महिलाओं को सम्मानजनक स्थान प्राप्त था। उन्हें शिक्षा प्राप्त करने की अनुमति थी, और **घोषा, अपाला, लोपामुद्रा, और मैत्रेयी** जैसी विदुषी महिलाओं का उल्लेख मिलता है, जिन्होंने दर्शन और आध्यात्म पर गहन चर्चाएं कीं[14]। वे राजनीतिक संस्था *विदथ* में भी सक्रिय रूप से भाग लेती थीं[10]।

3.2. उत्तर वैदिक समाज: जन्म-आधारित कठोरता

उत्तर वैदिक काल में कृषि अर्थव्यवस्था के स्थायित्व और राजनीतिक केंद्रीकरण के कारण समाज में जटिलता और स्तरीकरण बढ़ गया।

जन्म-आधारित वर्ण व्यवस्था का उदय: वर्ण व्यवस्था अब जन्म पर आधारित और अत्यधिक कठोर हो गई[5]। यह सामाजिक गतिशीलता के स्पष्ट ह्रास को दर्शाता है। कृषि अधिशेष की नियमितता ने ब्राह्मणों और क्षत्रियों को गैर-उत्पादक अभिजात वर्ग के रूप में स्थायी रूप से स्थापित कर दिया[7]। इस अधिशेष पर वंशानुगत नियंत्रण सुनिश्चित करने के लिए, सामाजिक पदानुक्रम को जन्म से जोड़ा गया, जिससे विशेषाधिकार स्वचालित रूप से अगली पीढ़ी में हस्तांतरित हो सकें।

- **ब्राह्मण:** पुरोहित और शिक्षक के रूप में सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया, जो जटिल कर्मकांडों के विशेषज्ञ बन गए।
- **क्षत्रिय:** क्षेत्रीय शासक और योद्धा वर्ग बने, जो भूमि पर शासन और सैन्य शक्ति का उपयोग करते थे।
- **वैश्य:** इन्हें कृषक, व्यापारी, और पशुपालक माना गया। वे मुख्य उत्पादक वर्ग बन गए, जिन पर राज्य के लिए **अनिवार्य कर (बलि)** देने की जिम्मेदारी थी[13]।
- **शूद्र:** उनकी स्थिति में सबसे स्पष्ट गिरावट आई। वे सेवा और श्रम के लिए नियत हो गए।

गोत्र प्रणाली और आश्रम व्यवस्था: इस काल में गोत्र की अवधारणा विकसित हुई, जिसकी उत्पत्ति *गोष्ठ* (गायों को एक साथ बांधने का स्थान) से मानी जाती है। *गोत्र* समान रक्त संबंध को दर्शाने लगा, जो वैवाहिक गठबंधनों को नियंत्रित करने और संपत्ति को एकीकृत करने के लिए एक आवश्यक सामाजिक विभाजक के रूप में कार्य करता था[15]। इसके अलावा, जीवन को चार चरणों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास) में बांटने वाली **आश्रम व्यवस्था** की प्रारंभिक रूपरेखा भी इसी काल में उभरी।

3.3. स्त्रियों की स्थिति में गिरावट

उत्तर वैदिक समाज में महिलाओं की स्थिति में नाटकीय रूप से गिरावट आई[15]।

धार्मिक और सामाजिक ह्रास: स्त्रियों के धार्मिक अधिकारों में कमी आई, और उनकी राजनीतिक भागीदारी (जैसे *विदथ* और *सभा* में) समाप्त हो गई। इस काल के ग्रंथों में उनके प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण दिखाई देता है। उदाहरण के लिए, *मैत्रीय संहिता* में नारी को **धूत (जुआ) और मदिरा** के साथ तीन प्रमुख बुराइयों में गिना गया[15]। इससे भी अधिक, *तैत्रीय संहिता* में नारी को स्पष्ट रूप से **शूद्रों से भी नीचे** गिना गया था[15]।

पितृसत्तात्मक स्वरूप: यह गिरावट संपत्ति (विशेषकर कृषि भूमि) के बढ़ते महत्व से जुड़ी हुई थी। प्रारंभिक वैदिक समाज की समतामूलक प्रवृत्ति के विपरीत, उत्तर वैदिक समाज में पितृसत्तात्मक स्वरूप (जहाँ पिता या पुरुष की सत्ता चलती थी) मजबूत हुआ। इस स्थायी संपत्ति पर पुरुष वंश का नियंत्रण सुनिश्चित करने के लिए महिलाओं के अधिकारों को कम किया गया।

खंड IV: आर्थिक परिवर्तन (पशुपालन से कृषि प्रधानता)

4.1. प्रारंभिक वैदिक अर्थव्यवस्था: पशुचारण प्रधान

प्रारंभिक वैदिक आर्यों का आर्थिक जीवन मुख्य रूप से गतिशीलता और पशुपालन पर केंद्रित था।

पशु और संपत्ति: ऋग्वैदिक आर्यों का मुख्य व्यवसाय **पशुपालन** और गौण व्यवसाय कृषि था[3]। गाय उनकी संपत्ति का मुख्य मापदंड थी, जिसे अत्यधिक पवित्र माना जाता था और **अघन्या** (न मारने योग्य)

कहा जाता था[8]। पशुओं के लिए किए गए युद्धों को **गविष्टि** कहा जाता था[8]। घोड़े का भी महत्व था, विशेषकर रथों और युद्धों में[3]।

व्यापार और मुद्रा: व्यापार सीमित था और मुख्य रूप से **वस्तु विनिमय** के माध्यम से होता था[3]। *निष्क* (सोने का आभूषण) का उल्लेख विनिमय के एक रूप के रूप में किया गया है, लेकिन यह नियमित मुद्रा का प्रचलन नहीं था। उद्योगों और शिल्पों का विशिष्टीकरण कम था।

4.2. उत्तर वैदिक अर्थव्यवस्था: कृषि प्रधानता का आगमन

उत्तर वैदिक काल को भारतीय इतिहास में पशुचारणिक अर्थव्यवस्था से **कृषि-आधारित अर्थव्यवस्था** में संक्रमण का युग माना जाता है[5]। यह परिवर्तन क्षेत्रीय राज्यों के उदय का मूलभूत कारक था।

लोहे की तकनीकी क्रांति: लगभग 1000 ईसा पूर्व के आसपास लोहे का प्रयोग शुरू हुआ, जिसके पुरातात्विक प्रमाण उत्तर प्रदेश के अतरंजीखेड़ा जैसे स्थलों से मिलते हैं[6]। लोहे को **श्याम अयस्** या **कृष्ण अयस्** कहा जाता था[6]। लोहे के औजारों (विशेष रूप से कुल्हाड़ी और हल के फाल) के कारण गंगा-यमुना दोआब के घने जंगलों को साफ करना और गहन कृषि करना संभव हुआ। यह तकनीकी प्रगति LV संस्कृति के स्थायित्व और समृद्धि की कुंजी थी।

कृषि का विस्तार और अधिशेष: इस काल में कृषि का महत्व इतना बढ़ गया कि *शतपथ ब्राह्मण* जैसे ग्रंथों में कृषि की समस्त प्रक्रियाओं—बुआई, जुताई, गुड़ाई, और कटाई—का विस्तृत वर्णन मिलता है[1]। गेहूँ, जौ, और दालें मुख्य फसलें थीं[10]। कृषि उत्पादन ने इतना अधिशेष उत्पन्न किया कि राज्य संरचना और गैर-उत्पादक सामाजिक वर्गों (ब्राह्मण और क्षत्रिय) का भरण-पोषण हो सके[7]।

शिल्प और उद्योग में विशिष्टीकरण: कृषि स्थायित्व के साथ-साथ शिल्प और उद्योग का भी विकास हुआ। **बढ़ई, धातु कर्मी, स्वर्णकार, और चमड़े का काम करने वाले** जैसे विशिष्ट कारीगरों का उदय हुआ[3]। इस काल की पुरातात्विक पहचान **चित्रित धूसर मृद्भांड** (Painted Grey Ware - PGW) थी[5]।

राजस्व प्रणाली और अनिवार्य कर: प्रारंभिक वैदिक काल के स्वैच्छिक उपहार के विपरीत, उत्तर वैदिक राजन ने अपनी स्थायी प्रशासनिक और सैन्य आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए नियमित और **अनिवार्य कर (बलि)** वसूलना शुरू कर दिया[9]। यह परिवर्तन LV राजतंत्र के केंद्रीकृत और संगठित होने का स्पष्ट आर्थिक प्रमाण है।

हालांकि LV अर्थव्यवस्था ने पर्याप्त अधिशेष उत्पन्न किया, यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इस काल की बस्तियाँ मुख्य रूप से ग्रामीण या अर्ध-शहरी प्रकृति की थीं (जैसे PGW स्थल)। वास्तविक, बड़े पैमाने पर शहरीकरण अगले कालखंड (महाजनपद काल, 600 ईसा पूर्व के बाद) में ही संभव हो पाया।

खंड V: धार्मिक विकास और दार्शनिक चिंतन (कर्मकांड से ज्ञानकांड तक)

5.1. प्रारंभिक वैदिक धर्म: प्रकृति की सरलता

ऋग्वैदिक धर्म प्रकृति की शक्तियों के मानवीकरण पर आधारित था। यह सरल था, और पूजा का उद्देश्य मुख्य रूप से भौतिक सुख, पशु धन, पुत्र प्राप्ति और शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना था।

देवताओं की प्रमुखता: इस काल के प्रमुख देवता **इंद्र** (युद्ध और वर्षा के देवता, जिन पर 250 सूक्त समर्पित थे), **अग्नि** (मनुष्यों और देवताओं के बीच मध्यस्थ, जिन पर 200 सूक्त समर्पित थे), और **वरुण** (नैतिक व्यवस्था *ऋत* के संरक्षक) थे[3]। यज्ञों का स्वरूप अपेक्षाकृत सरल था।

5.2. उत्तर वैदिक धर्म: कर्मकांडीय प्रभुत्व

उत्तर वैदिक काल में धार्मिक क्षेत्र में दो विपरीत रुझान दिखाई दिए: कर्मकांडों की जटिलता में भारी वृद्धि और इसके समानांतर, कर्मकांडों के विरुद्ध दार्शनिक चिंतन का उदय।

देवमंडल में परिवर्तन: ऋग्वैदिक देवताओं (**इंद्र, अग्नि, वरुण**) का महत्व कम हो गया। उनका स्थान नए देवताओं ने लिया, जो क्षेत्रीय स्थिरता और सामाजिक व्यवस्था से अधिक संबंधित थे[3]।

- **प्रजापति** (सृष्टि के देवता) को सर्वोच्च स्थान प्राप्त हुआ[3]।
- **विष्णु** (विश्व के संरक्षक और पालनकर्ता) और **रुद्र** (पशुपतिनाथ/शिव का पूर्व रूप) भी प्रमुखता प्राप्त करने लगे[3]। देवताओं के क्रम में यह परिवर्तन LV काल की राजनीतिक आवश्यकता को दर्शाता है: अब युद्ध और गतिशीलता की बजाय व्यवस्था और सृष्टि का क्रम (स्थायी कृषि समाज के लिए) महत्वपूर्ण हो गया था।

कर्मकांडों की जटिलता: ब्राह्मण ग्रंथों और सूत्र साहित्य ने धार्मिक अनुष्ठानों को अत्यधिक जटिल और खर्चीला बना दिया[18]।

- **श्रौतसूत्र** वृहद् सार्वजनिक यज्ञों (राजसूय, अश्वमेध) की विधियों का वर्णन करते थे[16]।
- **गृह्यसूत्र** गृहस्थ जीवन से संबंधित संस्कारों (जैसे सोलह संस्कार, पांच महायज्ञ) और दैनिक विधियों का निरूपण करते थे[19]।

इस अत्यधिक जटिलता के कारण पुरोहित (ब्राह्मण) वर्ग का वर्चस्व स्थापित हो गया, क्योंकि केवल वे ही इन विस्तृत यज्ञों को सही ढंग से संपन्न करा सकते थे। परिणामस्वरूप, प्रारंभिक वैदिक काल की धार्मिक सरलता जाती रही, और सब कुछ कठोर हो गया[18]।

5.3. दार्शनिक प्रतिक्रिया: उपनिषदों का ज्ञानकांड

उत्तर वैदिक काल के अंतिम दौर में (लगभग 800-600 ईसा पूर्व), पुरोहितों के प्रभुत्व और यज्ञों की अतिरेक के विरुद्ध एक प्रबल बौद्धिक और दार्शनिक प्रतिक्रिया प्रारंभ हुई[12]। यह प्रतिक्रिया उपनिषदों के रूप में सामने आई।

उपनिषदों का उदय: उपनिषद (वेदांत) ने कर्मकांडों को अत्यंत गौण स्थान दिया[18]। यह आंदोलन मुख्य रूप से कुरु, पांचाल और विदेह जैसे क्षेत्रीय राज्यों के दार्शनिकों (अक्सर क्षत्रिय राजाओं और विचारकों) द्वारा समर्थित था, जिन्होंने ब्राह्मणों के कर्मकांडीय एकाधिकार को चुनौती दी।

केंद्रीय दार्शनिक अवधारणाएं: उपनिषदों ने अमूर्त और आंतरिक चिंतन पर जोर दिया। इसके केंद्रीय विषय थे:

- **ब्रह्म और आत्मा:** *ब्रह्म* (सत्य, चित्त, आनंदमय) को अंतिम वास्तविकता माना गया[18]। *आत्मा* को *ब्रह्म* की ही ज्योति माना गया, और इन दोनों के पारस्परिक संबंध पर गहन चिंतन हुआ। *बृहदारण्यक उपनिषद* में मैत्रेयी और ऋषि याज्ञवल्क्य का संवाद (जो *आत्मन* और *ब्रह्म* के अंतर पर केंद्रित था) इस गहन दार्शनिक प्रवृत्ति का प्रमाण है[14]।
- **कर्म और पुनर्जन्म:** पहली बार, कर्म का सिद्धांत, पुनर्जन्म, और **मोक्ष/मुक्ति** का मार्ग (ज्ञान के माध्यम से) जैसे विचार दार्शनिक रूप से स्थापित किए गए[20]।

उपनिषदों का उद्भव एक महत्वपूर्ण सामाजिक-आर्थिक निहितार्थ रखता है। अत्यधिक महंगे यज्ञ वैश्य (जो कर देते थे) और क्षत्रिय (जो यज्ञ करवाते थे) दोनों पर भारी आर्थिक बोझ थे। उपनिषदों ने आंतरिक ज्ञान पर जोर देकर पुरोहितों की आवश्यकता को समाप्त कर दिया, जिससे ब्राह्मणों की शक्ति को चुनौती मिली और आगामी बौद्ध और जैन जैसे श्रमण आंदोलनों के लिए वैचारिक आधार तैयार हुआ।

खंड VI: तुलनात्मक संश्लेषण और निष्कर्ष

6.1. प्रारंभिक और उत्तर वैदिक काल के मध्य मूलभूत संक्रमण

प्रारंभिक वैदिक काल और उत्तर वैदिक काल के बीच का 500 वर्षों का समय भारतीय इतिहास में 'जन' (कबीला) के 'राज्य' (जनपद) में संक्रमण का एक व्यापक और बहुआयामी अध्ययन प्रस्तुत करता है। इस संक्रमण की दिशा हमेशा गतिशीलता से स्थायित्व, लचीलेपन से कठोरता, और सरलता से जटिलता की ओर रही।

निम्नलिखित सारणी दोनों कालों के बीच हुए मौलिक परिवर्तनों को संक्षेप में प्रस्तुत करती है:

वैदिक कालीन संरचनाओं का तुलनात्मक विश्लेषण

तुलना का आयाम	प्रारंभिक वैदिक काल (1500–1000 ई.पू.)	उत्तर वैदिक काल (1000–600 ई.पू.)
भौगोलिक केंद्र	सप्तसिंधु प्रदेश (पशुचारण) [3]	गंगा-यमुना दोआब (गहन कृषि) [3]
राजनीति की प्रकृति	कबायली (जन-आधारित); राजन निर्वाचित सैन्य नेता [3]	क्षेत्रीय (जनपद-आधारित); वंशानुगत राजतंत्र; केंद्रीय शक्ति में वृद्धि [5]
जनतांत्रिक संस्था	सभा, समिति, विदथ सक्रिय; राजा पर नियंत्रण [9]	संस्थाएँ क्षीण/विलुप्त; वृहद् यज्ञों द्वारा शाही वैधता [12]
अर्थव्यवस्था का आधार	पशुपालन प्रधान (गाय/अघन्या) [8]	कृषि प्रधान (लोहा/श्याम अयस द्वारा समर्थित) [6]
राजस्व	स्वैच्छिक भेंट (बलि)	नियमित, अनिवार्य कर (बलि); राजस्व कलेक्टरों का उदय [13]
वर्ण व्यवस्था	लचीली, कर्म-आधारित; सामाजिक गतिशीलता संभव [13]	कठोर, जन्म-आधारित; उच्च वर्ग विशेषाधिकार प्राप्त [15]
स्त्रियों की स्थिति	सम्मानजनक; धार्मिक/राजनीतिक भागीदारी [10]	गिरावट; धार्मिक और सामाजिक अधिकारों में कमी; शूद्रों के समकक्ष माना गया [15]

प्रमुख देवता	इंद्र (युद्ध), अग्नि (मध्यस्थ), वरुण (नैतिकता) [3]	प्रजापति (सृष्टि), विष्णु (संरक्षण), रुद्र (विनाश) [3]
धार्मिक स्वरूप	सरल प्रकृति पूजा, भौतिक सुख की कामना [18]	जटिल कर्मकांड (ब्राह्मण/सूत्र), दार्शनिक चिंतन (उपनिषद्) [20]

6.2. अंतिम निष्कर्ष और LV काल की विरासत

उत्तर वैदिक काल भारतीय इतिहास का एक निर्णायक चरण था। इस काल में लोहे की प्रौद्योगिकी [6] और भौगोलिक विस्तार (गंगा घाटी में) के कारण एक बहुआयामी और अपरिहार्य परिवर्तन हुआ। पशुपालक जन समुदाय स्थायी कृषक क्षेत्रीय राज्य (जनपद) में परिवर्तित हो गए।

इस युग ने राजनीतिक केंद्रीकरण का मार्ग प्रशस्त किया, जिसने कबायली स्वतंत्रता को कम किया और एक वंशानुगत, कर्मकांडीय रूप से मान्य राजतंत्र को जन्म दिया। कृषि अधिशेष ने अनिवार्य करों के संग्रहण को संभव बनाया, जिससे राज्य की शक्ति का आधार मजबूत हुआ। इसी आर्थिक आधार पर समाज में कठोर स्तरीकरण (जन्म-आधारित वर्ण व्यवस्था) और लिंग-आधारित पदानुक्रम को बल मिला।

धार्मिक क्षेत्र में, भौतिक और कर्मकांडीय जटिलता (ब्राह्मण ग्रंथों द्वारा परिभाषित) चरम पर पहुँची, जिसने पुरोहित वर्ग की शक्ति को बढ़ाया। हालांकि, इस जटिलता ने समाज के भीतर एक शक्तिशाली बौद्धिक असंतोष को जन्म दिया, जिसका चरम अभिव्यक्ति उपनिषदों के **ज्ञानकांड** में हुआ। उपनिषदों ने कर्मकांडों को त्यागकर ब्रह्म-आत्मा की एकता पर ध्यान केंद्रित किया, जिससे भारतीय दर्शन का आधारभूत सिद्धांत स्थापित हुआ।

संक्षेप में, उत्तर वैदिक काल ने महाजनपद काल (600 ईसा पूर्व) के लिए आवश्यक संस्थागत, सामाजिक और वैचारिक आधारशिला रखी, जिसमें स्थायी राजधानी, नियमित सेनाएँ, और द्वितीय शहरीकरण का उदय हुआ, जिसने अंततः भारत के राजनीतिक और सांस्कृतिक मानचित्र को स्थायी रूप से बदल दिया।

हड़प्पा सभ्यता: कांस्य युगीन दक्षिण एशिया में नगरीय क्रांति, सामाजिक जटिलता और बहु-कारणीय अवसान का एक गहन अध्ययन

खंड I: परिचय और सभ्यता का संदर्भ

1.1. ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और नामकरण की समस्या

सिंधु घाटी सभ्यता, जिसे सामान्यतः हड़प्पा सभ्यता के नाम से जाना जाता है, दक्षिण एशिया की सबसे प्राचीन कांस्य युगीन सभ्यता (लगभग 3300 से 1300 ईसा पूर्व) थी [1]। इस सभ्यता की खोज भारतीय इतिहास में एक महत्वपूर्ण मील का पत्थर साबित हुई, जिसने भारतीय इतिहास की समयरेखा को लगभग 2000 वर्ष पीछे धकेल दिया [2]। इसकी खोज का संदर्भ 1920 के दशक में भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण (ASI) द्वारा किए गए उत्खनन से शुरू होता है, जिसके परिणामस्वरूप हड़प्पा और मोहनजोदड़ो जैसे दो प्राचीन शहरों के अवशेष प्राप्त हुए [3]।

हड़प्पा स्थल की खोज दयाराम साहनी द्वारा 1921 में की गई थी, जबकि मोहनजोदड़ो की खोज 1922 में आर.डी. बनर्जी ने की थी [2]। भारतीय पुरातत्व विभाग के तत्कालीन महानिदेशक जॉन मार्शल ने सन 1924 में सिंधु घाटी में एक नई और उन्नत सभ्यता की आधिकारिक घोषणा की [2]। इस सभ्यता को कई नामों से जाना जाता है: सिंधु घाटी सभ्यता (भौगोलिक स्थिति के कारण), हड़प्पा सभ्यता (चूँकि हड़प्पा पहला खोजा गया स्थल था) [4], और हाल ही में 'सिंधु-सरस्वती सभ्यता' (घग्गर-हाकरा नदी घाटी में बड़ी संख्या में स्थलों की खोज के कारण) [3]। इस सभ्यता का आकार त्रिभुजाकार था और इसका क्षेत्रफल 1,299,600 वर्ग किलोमीटर था, जो इसे प्राचीन मिस्र और मेसोपोटामिया सभ्यताओं से भी बड़ा बनाता है, जो इसके व्यापक आयाम और महत्व को दर्शाता है [4]।

1.2. कालक्रम और चरणबद्ध विकास का विश्लेषण

पुरातत्वविदों ने हड़प्पा सभ्यता के विकास को तीन मुख्य चरणों में विभाजित किया है, जो इसके क्रमिक उत्कर्ष और अवसान को दर्शाते हैं:

1. **प्रारंभिक हड़प्पा (Early Harappan):** यह चरण 3300 ईसा पूर्व से 2600 ईसा पूर्व तक का है, जिसे 'हाकरा चरण' से संबंधित माना जाता है [3]। इस दौरान एक केंद्रीय इकाई की उपस्थिति और बढ़ती शहरी विशेषताएं चिह्नित की गई थीं [3]।
2. **विकसित हड़प्पा (Mature Harappan):** यह सभ्यता की पराकाष्ठा का काल था, जो 2600 ईसा पूर्व से 1900 ईसा पूर्व तक रहा [1]। इस चरण को 'एकीकरण युग' भी कहा जाता है [1], जब मानकीकृत शहरी नियोजन, मुहरों, और व्यापक व्यापार ने एक समान संस्कृति को जन्म दिया।
3. **उत्तर हड़प्पा (Late Harappan):** यह 1900 ईसा पूर्व से 1300 ईसा पूर्व तक का अवसान काल था, जिसे 'प्रवास युग' के रूप में भी जाना जाता है [1]। इस दौरान नगरीय अवसंरचना में गिरावट आई और क्षेत्रीय संस्कृतियों (जैसे समाधी एच संस्कृति) का उदय हुआ [1]।

Table 1: हड़प्पा सभ्यता का कालक्रम और चरण

समय (BCE)	काल (Phase)	युग (Era)	मुख्य विशेषताएँ
3300–2600	प्रारंभिक हड़प्पा (हाकरा चरण)	क्षेत्रीयकरण युग	लिपि का प्रथम उदाहरण; कृषि विस्तार; छोटे पैमाने की बस्तियाँ।
2600–1900	विकसित हड़प्पा (मध्य कांस्य युग)	एकीकरण युग	नगरीय नियोजन (ग्रिड पैटर्न); मुहरों का मानकीकरण; अंतर्राष्ट्रीय व्यापार (मेलुहा); विशाल स्नानागार।
1900–1300	उत्तर हड़प्पा (उत्तरी कांस्य युग)	प्रवास युग	नगरीय अवसान; क्षेत्रीयकरण; प्रशासनिक नियंत्रण में शिथिलता; समाधी एच संस्कृति।

1.3. कालक्रम और नामकरण के निहितार्थ

हड़प्पा सभ्यता का विकसित चरण (2600-1900 ईसा पूर्व) समकालीन मिस्र और मेसोपोटामिया से भौगोलिक रूप से कहीं अधिक विस्तृत था[3]। 'एकीकरण युग'[1] शब्दावली का प्रयोग इस बात को मजबूती प्रदान करता है कि विकसित हड़प्पाई चरण किसी बाहरी प्रभाव का परिणाम नहीं था, बल्कि यह स्थानीय प्रारंभिक संस्कृतियों के मेलजोल और प्रौद्योगिकीय एकरूपता का परिणाम था, जिससे यह सभ्यता स्वदेशी विकास के सिद्धांत को पुष्ट करती है।

इसके अतिरिक्त, 'सिंधु-सरस्वती सभ्यता' नामकरण का बढ़ता प्रचलन घग्गर-हाकरा नदी घाटी[3] में पाए गए विशाल स्थलों (जैसे राखीगढ़ी और धोलावीरा) के महत्व को रेखांकित करता है। यह स्पष्ट करता है कि सभ्यता का केंद्र केवल सिंधु नदी तक सीमित नहीं था, बल्कि पूर्वी क्षेत्रों में भी फैला था, जिससे इसका विस्तार भारतीय उपमहाद्वीप में और अधिक व्यापक रूप से प्रमाणित होता है[5]। यह भौगोलिक विस्तार और आंतरिक एकीकरण, इस सभ्यता की प्रशासनिक और आर्थिक शक्ति की गहराई को दर्शाता है।

खंड II: उत्पत्ति के सिद्धांत और स्वदेशी विकास

2.1. बाहरी प्रभाव बनाम स्वदेशी उद्भव का द्वंद्व

प्रारंभिक पुरातात्विक अध्ययनों में, कुछ विद्वानों (जैसे मोर्टिमर व्हीलर) ने मेसोपोटामिया की समकालीन सभ्यताओं के साथ समानता के आधार पर यह तर्क दिया कि हड़प्पा सभ्यता की उत्पत्ति बाहरी प्रभाव से हुई होगी। हालाँकि, बाद के गहन उत्खनन और विश्लेषण ने इस सिद्धांत को खंडित कर दिया। विकसित हड़प्पा सभ्यता की विशिष्ट विशेषताएं, जैसे कि उन्नत जल निकासी प्रणाली, मानकीकृत ईंटों का उपयोग, और एक अद्वितीय चित्रात्मक लिपि[3], मेसोपोटामिया की शहरी विशेषताओं से भिन्न थीं।

हड़प्पा सभ्यता को मिस्र, मेसोपोटामिया और चीन की तुलना में **अधिक उन्नत** माना गया है[3]। जहाँ मेसोपोटामिया में मंदिर या राजशाही का स्पष्ट प्रभुत्व था, वहीं हड़प्पा में नागरिक सुविधाएं (जल निकास,

ग्रिड प्लानिंग) और एकरूपता कहीं अधिक सुव्यवस्थित और मानकीकृत थीं[6]। इन आंतरिक विशिष्टताओं ने बाहरी प्रसार के सिद्धांत के विपरीत स्वदेशी उद्भव के सिद्धांत को मजबूत किया।

2.2. स्वदेशी उद्भव का सिद्धांत

वर्तमान शोध इस बात का समर्थन करता है कि हड़प्पा सभ्यता का विकास भारतीय उपमहाद्वीप के भीतर स्थानीय कृषक बस्तियों से हुआ। प्रारंभिक हड़प्पाई चरण को 'हाकरा चरण' से संबंधित बताया गया है, जो घग्गर-हाकरा नदी घाटी में चिह्नित किया गया था[3]। यह स्पष्ट करता है कि नगरीयता की जड़ें क्षेत्रीय कृषि बस्तियों में थीं।
लगभग 3000 ईसा पूर्व के समय से हड़प्पाई लिपि का प्रथम उदाहरण मिलना[3] यह दर्शाता है कि उन्नत शहरी विशेषताओं और एक केंद्रीय इकाई की उपस्थिति के साथ, सांस्कृतिक और प्रशासनिक जटिलता धीरे-धीरे बढ़ रही थी। यह क्रमिक विकास, अचानक क्रांति नहीं थी, बल्कि सफल कृषि अधिशेष और क्षेत्रीय प्रौद्योगिकियों (जैसे धातु कर्म) के संचय का अंतिम परिणाम था। यह कृषि विस्तार ही 'एकीकरण युग'[1] का आधार बना, जिसमें स्थानीय संस्कृतियों ने मिलकर एक विशाल मानकीकृत नगरीय सभ्यता का निर्माण किया। आर.एस. शर्मा[8], बी.बी. लाल[2], और ग्रिगरी पोस्सेल[9] जैसे प्रमुख पुरातत्वविदों ने स्वदेशी विकास के सिद्धांत का समर्थन किया है।

2.3. नदी प्रणाली की प्रारंभिक भूमिका

प्रारंभिक चरणों का विकास घग्गर-हाकरा नदी घाटी[3] में सिंधु नदी घाटी से भी पहले चिह्नित किया गया, जो इस बात का संकेत देता है कि सभ्यता की प्रारंभिक जीवन रेखा इन नदी प्रणालियों (विशेष रूप से मौसमी वर्षा पर निर्भर हकरा प्रणाली) पर आधारित थी। यह गहन निर्भरता ही नगरीय उत्थान का आधार बनी, लेकिन बाद में इस प्रणाली का सूखना या मार्ग बदलना (जैसा कि पतन खंड में विश्लेषण किया गया है)[10], सभ्यता के लिए गंभीर खतरा बन गया।

खंड III: भौगोलिक विस्तार और प्रमुख स्थल

3.1. भौगोलिक सीमाएँ और विस्तार का पैमाना

हड़प्पा सभ्यता सिंधु नदी और उसकी सहायक नदियों (जैसे घग्गर-हाकरा, रवि, ब्यास, सतलज, चेनाब) के किनारे विकसित थी[3]। इसका विशाल त्रिभुजाकार आकार इसे प्राचीन विश्व की सबसे विस्तृत सभ्यताओं में स्थान दिलाता है[4]।
सभ्यता की चतुर्दिक सीमाएँ निम्नलिखित थीं:

- उत्तरी सीमा: मांडा (जम्मू और कश्मीर)
- दक्षिणी सीमा: दैमाबाद (महाराष्ट्र)
- पूर्वी सीमा: आलमगीरपुर (उत्तर प्रदेश, हिंडन नदी के पास)[11]
- पश्चिमी सीमा: सुतकागेंडोर (बलूचिस्तान)

इतनी विशाल और विविध भौगोलिक सीमा (उत्तर में बर्फीले क्षेत्रों से लेकर दक्षिण में तटीय क्षेत्रों तक) में मानकीकृत ईंटों, मुहरों, और वजन/मापों का उपयोग एक मजबूत केंद्रीय आर्थिक नियंत्रण और उन्नत लॉजिस्टिक्स क्षमता को दर्शाता है[4]।

3.2. प्रमुख शहरी केंद्रों का विशिष्ट पुरातात्विक अध्ययन

हड़प्पा सभ्यता के प्रमुख नगरों में उच्च स्तर की नगरीय नियोजन प्रणाली देखी जाती है, जो इन शहरों की प्रशासनिक जटिलता को दर्शाती है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा, सभ्यता के दो प्रमुख व्यापारिक केंद्र थे, जिनके बीच की दूरी लगभग 483 किमी थी, और वे थल तथा जल मार्गों द्वारा जुड़े हुए थे[12]।

- **मोहनजोदड़ो:** यहाँ से विशाल स्नानागार, उन्नत जल निकास प्रणाली, और एक बृहत् अन्नागार प्राप्त हुआ है, जिसकी लंबाई 45.71 मीटर और चौड़ाई 15.23 मीटर बताई गई है[2]। यहाँ से पशुपति महादेव की मुहर और 'नर्तकी की कांस्य मूर्ति' भी मिली है[14]।
- **लोथल (गुजरात):** यह एक महत्वपूर्ण बंदरगाह स्थल था, जहाँ से फारस की मुहरें[3] और मनके बनाने के कारखाने[11] मिले हैं, जो अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में इसकी भूमिका को प्रमाणित करते हैं।
- **कालीबंगा (राजस्थान):** यहाँ से जुते हुए खेत के शुरुआती साक्ष्य, काले रंग की चूड़ियाँ (कालीबंगा का अर्थ) और बेलनाकार मुहरें प्राप्त हुई हैं[3]।
- **राखीगढ़ी (हरियाणा):** यह घग्गर-हाकरा क्षेत्र में स्थित है और भारतीय क्षेत्रों में धौलावीरा के बाद दूसरा विशालतम ऐतिहासिक नगर है[5]।
- **धोलावीरा (गुजरात):** यह एकमात्र स्थल है जहाँ हड़प्पा 1 से हड़प्पा 5 (पूरे कालखंड) तक बसाहट पाई गई है[15]। यह विशेष रूप से अपनी उन्नत जल संचयन प्रणाली के लिए जाना जाता है, जिसमें कुओं और तालाबों का उपयोग जल संरक्षण और पुनर्चक्रण के लिए किया जाता था[16]।
- **आलमगीरपुर (उत्तर प्रदेश):** यह सभ्यता की पूर्वी सीमा को चिह्नित करता है। यहाँ से रोटी बेलने की चौकी और मोर, त्रिभुज, गिलहरी आदि के चित्रकार युक्त बर्तन प्राप्त हुए हैं[11]।

Table 2: हड़प्पा सभ्यता के भौगोलिक विस्तार के प्रमुख स्थल

स्थल (Site)	राज्य/क्षेत्र	नदी/क्षेत्र	महत्वपूर्ण पुरातात्विक खोज
हड़प्पा	पाकिस्तान (पंजाब)	रावी	पहला खोजा गया स्थल; वृहत् अन्नागार; समाधी एच संस्कृति।
मोहनजोदड़ो	पाकिस्तान (सिंध)	सिंधु	विशाल स्नानागार, नर्तकी की कांस्य मूर्ति, पशुपति मुहर।
लोथल	भारत (गुजरात)	भोगवा/तटवर्ती	कृत्रिम गोदी (बंदरगाह); फारस की मुहरें; मनके बनाने का कारखाना।
कालीबंगा	भारत (राजस्थान)	घग्गर-हाकरा	जुते हुए खेत का साक्ष्य; बेलनाकार मुहरें।

राखीगढ़ी	भारत (हरियाणा)	घग्गर-हाकरा	भारतीय क्षेत्र में दूसरा विशालतम स्थल [5]।
धोलावीरा	भारत (गुजरात)	कच्छ	उन्नत जल संचयन प्रणाली; त्रि-स्तरीय नगर योजना; पूर्ण कालखंड की बसाहट [15]।

3.3. राखीगढ़ी और धोलावीरा का महत्व

राखीगढ़ी [5] और धोलावीरा [15] जैसे भारतीय स्थलों की विशालता इस बात पर प्रकाश डालती है कि सभ्यता का केंद्र केवल सिंधु घाटी तक सीमित नहीं था। धोलावीरा की निरंतरता (हड़प्पा 1 से 5 तक) और राखीगढ़ी का व्यापक पैमाना, घग्गर-हाकरा नदी घाटी की महत्वपूर्णता को रेखांकित करता है। यह साक्ष्य बाद में पतन के दौरान आबादी के बड़े पैमाने पर पूर्वी और दक्षिणी प्रवासन (Migration) को समझने में सहायता करता है, क्योंकि ये क्षेत्र संभवतः सबसे लंबे समय तक जीवन प्रदान करते रहे।

खंड IV: विकसित हड़प्पा की मुख्य विशेषताएं: नगरीयता और प्रौद्योगिकी

4.1. उत्कृष्ट नगरीय नियोजन और वास्तुकला

हड़प्पा सभ्यता अपनी उच्च नगरीय योजना प्रणाली के लिए विश्व विख्यात है [3]। शहरों की सड़कें चौकोर और व्यवस्थित थीं, जो ग्रिड पैटर्न में एक-दूसरे को समकोण पर काटती थीं [4]।
नगरों को सामान्यतः द्वि-खंडीय संरचना में विभाजित किया जाता था:

1. **दुर्ग (Citadel):** यह नगर से कुछ ऊँचाई पर स्थित होता था, जहाँ अनुमानतः उच्च वर्ग के लोग या प्रशासनिक निकाय निवास करते थे [3]।
2. **निचला नगर (Lower Town):** यह सामान्यतः ईंटों से निर्मित होता था, जहाँ सामान्य लोग निवास करते थे [3]।

निर्माण सामग्री में एकरूपता पाई जाती थी, जिसमें पक्की (भट्ठी में पकाई गई) ईंटों का व्यापक उपयोग किया जाता था [2]। नगरीय योजना में घरों की बनावट, सड़कों, मोहल्लों और सार्वजनिक इमारतों के बारे में सूक्ष्म नियंत्रण दिखाया गया है [17]। नियोजन की यह अभूतपूर्व एकरूपता स्पष्ट रूप से यह सिद्ध करती है कि निजी निर्माण पर भी एक मजबूत नगरीय निगमन प्रणाली (Municipal/Corporate Governance) का सूक्ष्म नियंत्रण था [7]।

4.2. जल प्रबंधन और स्वच्छता में उत्कृष्टता

सिंधु घाटी सभ्यता की सबसे महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय विशेषता उसकी कुशल **बंद जल निकासी प्रणाली** थी [4]। यह उस समय के उच्च स्वच्छता मानकों को दर्शाती है [16]।
जल निकासी प्रणाली की जटिलता:

- हर गली में ईंट से बिछाए गए नाले थे, जो छोटी नालियों से जुड़कर बड़ी नालियों में मिलते थे, और अंततः नगर से बाहर जाते थे [6]।

- हर घर का अपना सोख्ता गड्ढा (Soak Pit) और जल निकासी व्यवस्था थी, जो मुख्य जल निकासी प्रणाली से जुड़ी हुई थी [6]।
- दीवारों में लंबवत नाली पाइप भी लगाए जाते थे, जो इंट्राम्यूरल नालियों और नहाने के फर्श से निकलने वाले अपशिष्ट जल को सड़क की नालियों तक पहुंचाते थे [6]।

इसके अतिरिक्त, जल संचयन और संरक्षण पर भी ध्यान दिया जाता था। कुओं और तालाबों का उपयोग जल एकत्रित करने के लिए किया जाता था, जिससे जल पुनर्चक्रण में योगदान मिलता था [16]। यह जल प्रबंधन प्रणाली प्राचीन भारतीय विज्ञान और तकनीकों के उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में मान्य है [16]।

4.3. आर्थिक संरचना: उत्पादन, व्यापार और वाणिज्य

हड़प्पा सभ्यता एक कांस्य युगीन सभ्यता थी [3], जहाँ आर्थिक गतिविधियाँ कृषि, उद्योग और व्यापक व्यापार पर आधारित थीं।

- **कृषि और उद्योग:** लोग गेहूँ, जौ और दालों की खेती करते थे [4]। तांबे और कांस्य का प्रयोग घरेलू तथा कृषि उपकरण बनाने में होता था [12]। मनके बनाने के कारखाने लोथल और चन्हुदड़ो जैसे स्थानों पर पाए गए हैं [11]।
- **व्यापार और वाणिज्य:** आंतरिक और बाह्य दोनों ही व्यापार समृद्ध अवस्था में थे [3]। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा प्रमुख व्यापारिक केंद्र थे [12]।
  - **अंतर्राष्ट्रीय व्यापार:** सुमेरियन सभ्यता के लेखों से ज्ञात होता है कि सिंधु सभ्यता के व्यापारियों को विदेशों में **मेलुहा** के नाम से जाना जाता था [3]। लोथल से फारस की मुहरें और कालीबंगा से बेलनाकार मुहरें अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रमाणित करती हैं [3]।
  - **विनिमय माध्यम:** उस समय सिक्कों का प्रचलन नहीं था, और व्यापार संभवतः **वस्तु विनिमय** (Barter System) के माध्यम से होता था [12]।

खंड V: सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक आयाम

5.1. सामाजिक संरचना और विषमता

उत्खनन से प्राप्त पुरातात्विक साक्ष्य समाज में सामाजिक विषमता (social stratification) की उपस्थिति को दर्शाते हैं [18]। समाज में व्यापारी, योद्धा और श्रमिक वर्ग के लोगों की उपस्थिति मौजूद थी [18]।
हड़प्पा समाज का एक महत्वपूर्ण पहलू इसका मातृसत्तात्मक स्वरूप था [18]। धार्मिक पूजा में मातृदेवी के महत्व तथा अन्य साक्ष्यों से यह अनुमान लगाया जाता है कि समाज में स्त्रियों को सम्मान दिया जाता था। यह व्यवस्था बाद के वैदिक काल के पितृसत्तात्मक ढांचे से भिन्न थी।
इसके अतिरिक्त, भौगोलिक विस्तार के कारण समाज में प्रजातीय विविधता मौजूद थी। पुरातात्विक अवशेषों से भूमध्यसागरीय (Mediterranean), प्रोटो ऑस्ट्रेलोइड, मंगोलॉयड और अल्पाइन जैसी विभिन्न जातियाँ या नस्लें मौजूद होने के साक्ष्य मिलते हैं [18]।

5.2. राजनीतिक संगठन की जटिलता

सिंधु-सरस्वती सभ्यता की राजनीतिक व्यवस्था की प्रकृति विवादास्पद रही है। विद्वान इस बात पर बहस करते हैं कि क्या कोई केंद्रीकृत राज्य अस्तित्व में था, और यदि था, तो वह किस प्रकार का था[7]।

- **कॉर्पोरेट शासन सिद्धांत:** कुछ विद्वानों का मानना है कि सार्वजनिक प्रशासन का जिम्मा एक राजा या पुरोहित वर्ग के पास नहीं था, बल्कि निरंकुश **कॉर्पोरेट समूहों** के पास था[7]। इन समूहों ने वाणिज्यिक नियमों और न्यूनतम जबरदस्ती के माध्यम से नगरीय व्यवस्था को नियंत्रित किया।
- **प्रशासनिक मुहरों का उपयोग:** इस सिद्धांत को 3,000 से अधिक मुहरों की खोज से बल मिलता है, जिनका उपयोग वाणिज्यिक ट्रैकिंग (शिपमेंट और स्वामित्व) से लेकर नियामक और प्रशासनिक साधनों तक में होता था[7]। मेसोपोटामिया के खंडहरों में सिंधु मुहरों की खोज[7] वाणिज्यिक और प्रशासनिक नियंत्रण की पुष्टि करती है। मुहरों का दोहरा उपयोग (वाणिज्यिक और प्रशासनिक) यह संकेत देता है कि राजनीतिक शक्ति संभवतः बड़े **व्यापारिक संघों** या नगर निगमों के पास वितरित (विकेन्द्रीकृत) थी, जिन्होंने व्यापार को सुगम बनाने के लिए आवश्यक सार्वजनिक व्यवस्था बनाए रखी।

5.3. धार्मिक जीवन और प्रतीकात्मकता

हड़प्पा सभ्यता के धार्मिक जीवन के बारे में जानकारी मुख्य रूप से पुरातात्विक अवशेषों, मुहरों और मूर्तियों पर आधारित है।

- **देवता और देवियाँ:** सिंधु घाटी के लोग मुख्य रूप से **'मातृ देवी'** की पूजा करते थे, जो प्रजनन और उर्वरता का प्रतीक थीं[20]। इसके अलावा, 'पशुपति महादेव' (जिसे त्रिनयन-शिव माना जाता है) की पूजा प्रचलित थी[20]।
- **पशुपति मुहर:** मोहनजोदड़ो से मिली एक मुहर पर त्रिमुखी पुरुष को एक चौकी पर पद्मासन मुद्रा में बैठा दिखाया गया है, जिसके सिर पर सींग हैं[14]। उसके दाहिनी तरफ हाथी और बाघ, तथा बांईं ओर गैंडा और भैंसा खड़ा है[21]। चौकी के नीचे दो हिरण खड़े दिखाए गए हैं।
- **पशु और वृक्ष पूजा:** मुहरों पर गलकंबलयुक्त डीलदार वृषभ (बैल, जो पौरुष का प्रतीक है) का अंकन मिलता है। इसके अतिरिक्त, एक श्रृंगी पशु (Unicorn) का अंकन भी व्यापक रूप से मिलता है[21]। पीपल जैसे वृक्षों की पूजा भी प्रचलित थी।
- **कला और शिल्प:** मोहनजोदड़ो से प्राप्त **'नर्तकी की कांस्य मूर्ति'** (लगभग 10.5 सेमी) हड़प्पाई कला का उत्कृष्ट उदाहरण है, जिसे पिघली हुई मोम तकनीक (Lost-wax technique) से बनाया गया था[14]।

5.4. सिंधु लिपि: रहस्य और द्रविड़ परिकल्पना

सिंधु लिपि, जिसे सिंधु-सरस्वती या हड़प्पा लिपि भी कहा जाता है, संकेतों का एक समूह है, जिसे कांस्य युगीन सभ्यता का सबसे बड़ा अनसुलझा रहस्य माना जाता है, क्योंकि इसे अभी तक समझा नहीं जा सका है[19]।

- **अपठित स्थिति:** लिपि का अपठित रहना (Decipherment) हड़प्पाई लोगों के सैद्धांतिक धार्मिक पक्ष (दार्शनिक मान्यताएँ), राजनीतिक प्रशासन की सटीक प्रकृति, और भाषा की समझ में बाधा डालता है [22]।
- **लिपि का रहस्योद्घाटन:** विद्वानों का मानना है कि इस लिपि के उदघाटन में आसानी तभी होगी जब सुमेर के साथ संबंधों को दर्शाने वाला कोई द्वैभाषिक लेख (Bilingual Inscription) प्राप्त हो जाए [19]।
- **भाषा सिद्धांत:** इसकी भाषा को लेकर कई सिद्धांत हैं। द्रविड़ परिकल्पना सर्वाधिक प्रमुख है, जिसे असको परपोला और भारतीय शोधकर्त्ता इरावतम महादेवन द्वारा समर्थित किया गया है [24]। यह परिकल्पना द्रविड़ भाषा का सिंधु घाटी सभ्यता से जुड़ाव स्थापित करती है।

खंड VI: पतन के कारण और उत्तर-हड़प्पा संक्रमण

6.1. पतन की प्रक्रिया: बहु-कारक दृष्टिकोण

हड़प्पा सभ्यता का अंत अचानक विनाश नहीं था, बल्कि यह 1900 ईसा पूर्व से शुरू हुई क्रमिक अवसान की प्रक्रिया थी, जिसे 'प्रवास युग' के रूप में चिह्नित किया गया है [1]। विद्वान सभ्यता के पतन के पीछे किसी एक कारण पर एकमत नहीं हैं, बल्कि बहु-कारक सिद्धांत (Multi-causal theory) सर्वाधिक स्वीकार्य माना जाता है, जिसमें पर्यावरणीय, आर्थिक और प्रशासनिक कारकों का जटिल अंतर्संबंध शामिल है [17]।

6.2. सर्वमान्य पर्यावरणीय सिद्धांत: जलवायु परिवर्तन और पारिस्थितिकी असंतुलन

वर्तमान में, जलवायु परिवर्तन या पारिस्थितिकी असंतुलन को सभ्यता के अंत का सबसे विश्वसनीय और लोकप्रिय मत माना जाता है [10]। फेयर सर्विस और गुरदीप सिंह जैसे विद्वानों ने इस मत का समर्थन किया [10]।

- **आधार:** भौगोलिक परिवर्तन, जैसे कि मानसून पैटर्न में बदलाव के कारण वर्षा में कमी आई, जिससे शुष्कता बढ़ी और कृषि उत्पादकता में गिरावट आई [26]। इसके अलावा, वनों की कटाई ने भी पारिस्थितिकी असंतुलन में योगदान दिया।
- **नदी प्रणाली का पतन:** सिंधु और विशेष रूप से घग्गर-हाकरा जैसी नदियों के मार्ग में भू-तात्विक बदलाव और उनका सूखना एक प्राथमिक कारण था [17]। चूंकि सभ्यता मुख्य रूप से नदी प्रणालियों पर अत्यधिक निर्भर थी, नदियों के सूखने से शहरी केंद्रों के लिए आवश्यक कृषि अधिशेष और जल आपूर्ति समाप्त हो गई।

6.3. सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक कारक

पर्यावरणीय संकट के कारण आर्थिक और राजनीतिक संरचनाएँ चरमरा गईं।

- **व्यापार में गिरावट:** हड़प्पा सभ्यता अपनी शहरी प्रकृति के कारण व्यापार पर अत्यधिक निर्भर थी [10]। मेसोपोटामिया (मेलुहा) और आंतरिक व्यापार दोनों में गिरावट आने से शहरी अर्थव्यवस्था का आधार समाप्त हो गया। व्यापार के पतन को भी सभ्यता के क्रमशः अंत का एक महत्वपूर्ण कारक माना जाता है [10]।

- **प्रशासनिक शिथिलता:** नगरीय नियोजन की सफलता एक मजबूत और केंद्रीकृत प्रशासन (कॉर्पोरेट समूहों) पर निर्भर थी [7]। जब पर्यावरणीय और आर्थिक तनाव बढ़ा, तो शासकों ने नियंत्रण खो दिया, जिससे प्रशासनिक शिथिलता आई [10]। इस नियंत्रण के नुकसान से जल निकासी, स्वच्छता और मानकीकरण जैसी आवश्यक नगरीय अवसंरचना ध्वस्त हो गई, जिससे बड़े पैमाने पर वि-शहरीकरण हुआ।

6.4. विवादित सिद्धांत: आर्य आक्रमण का आलोचनात्मक खंडन

प्रारंभिक दौर में, मोर्टिमर व्हीलर जैसे पुरातत्वविदों ने 'आर्य आक्रमण' (विदेशी हैंग ऑनर) को पतन का प्रमुख कारण माना था, जिसका उल्लेख ऋग्वेद में भी किया जाता है [17]। हालाँकि, यह सिद्धांत वर्तमान में अकादमिक समुदाय द्वारा व्यापक रूप से अस्वीकृत है। बड़े पैमाने पर सैन्य संघर्ष या नरसंहार के पुरातात्विक साक्ष्य अपर्याप्त हैं [17]। कुछ विद्वानों ने यह भी तर्क दिया है कि इस सिद्धांत को ब्रिटिश शासन के दौरान 'फूट डालो और राज करो' की नीति को बल देने के लिए प्रचारित किया गया था (आर्यों बनाम मूल द्रविड़ का सिद्धांत) [17]।

6.5. अवसान की कारण-प्रभाव श्रृंखला और नाजुकता

पतन की प्रक्रिया में एक स्पष्ट कारण-प्रभाव श्रृंखला देखी जाती है: **जलवायु परिवर्तन** (प्राथमिक कारण) -> **कृषि/नदी प्रणाली का पतन** (तत्काल परिणाम) -> **व्यापार और नगरीय अवसंरचना का टूटना** (आर्थिक/प्रशासनिक शिथिलता) -> **प्रवास और वि-शहरीकरण** (सामाजिक परिणाम)। यह सभ्यता की सबसे बड़ी अंतर्निहित नाजुकता को दर्शाता है: इसकी उच्च जटिलता और नदी प्रणाली पर अत्यधिक निर्भरता। जब पारिस्थितिक संतुलन बिगड़ा, तो अत्यधिक केंद्रीकृत नगरीय प्रणाली सबसे पहले ध्वस्त हुई, जबकि कम जटिल, क्षेत्रीय संस्कृतियाँ बच गईं, जो उत्तर-हड़प्पा काल में परिवर्तित हुईं।
पतन के बाद, लोग दक्षिणी और पूर्वी दिशाओं की ओर पलायन कर गए [26]। यह 'प्रवास युग' ग्रामीण बस्तियों में परिवर्तित हो गया, जो कम जटिल, क्षेत्रीय संस्कृतियों (जैसे समाधी एच संस्कृति) को जन्म देता है [1]।
Table 3: हड़प्पा सभ्यता के पतन के प्रमुख सिद्धांत

सिद्धांत (Theory)	प्रमुख आधार (Basis of Argument)	समर्थक विद्वान (Key Scholars)	आलोचनात्मक टिप्पणी (Critical Note)
जलवायु परिवर्तन/पारिस्थितिकी असंतुलन	वनों की कटाई; वर्षा में कमी; कृषि उत्पादकता में गिरावट, पारिस्थितिकी तनाव।	फेयर सर्विस, गुरदीप सिंह [10]	वर्तमान में सर्वाधिक विश्वसनीय, क्रमिक अवसान और प्रवास युग की व्याख्या करता है।
नदी मार्ग का परिवर्तन	भू-तात्विक बदलाव, घग्गर-हाकरा का	एम.आर. साहनी	प्रमुख स्थलों (मोहनजोदड़ो) के पतन

	सूखना, नदियों का विनाशकारी जल प्लावन।		की व्याख्या करता है, लेकिन सम्पूर्ण सभ्यता का नहीं।
व्यापार मार्ग का पतन	मेसोपोटामिया के साथ व्यापारिक संपर्क टूटना, शहरी अर्थव्यवस्था का आधार समाप्त होना।	फेयर सर्विस [10]	शहरी मानकीकरण को बनाए रखने में विफलता से नगरीय पतन हुआ।
बाहरी आक्रमण (आर्य)	सैन्य संघर्ष या नरसंहार।	मोर्टिमर व्हीलर (प्रारंभिक)	पुरातात्विक साक्ष्य अत्यंत कमजोर; वर्तमान में व्यापक रूप से अस्वीकृत [17]।

खंड VII: निष्कर्ष, विरासत और भावी शोध की दिशा

7.1. हड़प्पा सभ्यता का महत्व और विरासत

हड़प्पा सभ्यता कांस्य युगीन दक्षिण एशिया में नगरीय क्रांति का शिखर थी। यह सभ्यता नगरीय नियोजन (ग्रिड पैटर्न) [4], सार्वजनिक स्वास्थ्य (बंद जल निकासी प्रणाली) [6], और वस्तु विनिमय पर आधारित संगठित वाणिज्य [12] के उच्च मानकों को स्थापित करने में अद्वितीय थी। सार्वजनिक वस्तुओं (जैसे सड़कें और जल निकास) के निर्माण के लिए एक मजबूत, संभवतः कॉर्पोरेट-आधारित प्रशासन [7] की उपस्थिति इसकी सबसे बड़ी संगठनात्मक उपलब्धि थी।

इस सभ्यता ने भारतीय सभ्यता के विकास में महत्वपूर्ण विरासत छोड़ी। कांस्य प्रौद्योगिकी, मूर्तिकला कला (नर्तकी) [14], और धार्मिक प्रतीकवाद (जैसे पशुपति शिव की अवधारणा) भारतीय संस्कृति के विकास में स्थायी योगदान देते हैं।

7.2. भावी शोध और लिपि का महत्व

हालांकि हड़प्पा सभ्यता के पतन की बहु-कारणीय प्रकृति अब स्थापित हो चुकी है, इस सभ्यता के कई आयाम अभी भी स्पष्ट नहीं हैं। सिंधु लिपि अभी भी अनसुलझी बनी हुई है [22]। द्वैभाषिक लेख की प्राप्ति [19] ही इस रहस्योद्घाटन में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है।

लिपि के उदघाटन से हमें हड़प्पाई लोगों के सैद्धांतिक धार्मिक पक्ष (दार्शनिक मान्यताएँ) और राजनीतिक व्यवस्था की वास्तविक प्रकृति को और अधिक स्पष्ट रूप से समझने का अवसर मिलेगा, जो वर्तमान में केवल पुरातात्विक साक्ष्यों और अनुमानों पर आधारित हैं [23]। भावी शोध को उत्खनन के साथ-साथ जलवायु परिवर्तन के साक्ष्यों के गहन विश्लेषण पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए, ताकि यह समझा जा सके कि क्षेत्रीय संस्कृतियों ने पारिस्थितिक संकटों का सामना कैसे किया और नगरीय केंद्रों के ध्वस्त होने के बाद आबादी का प्रवास किन मार्गों से हुआ।

सोलह महाजनपद और उनका राजनितिक स्वरूप

महाजनपद का शाब्दिक अर्थ महान राज्य है। वे बौद्ध धर्म के उदय से पहले भारत के उत्तर / उत्तर पश्चिमी भागों में फले-फूले। भारतीय उपमहाद्वीप के विभिन्न क्षेत्रों को पहले जनपदों में विभाजित किया गया था, यह सीमाओं द्वारा एक स्पष्ट सीमांकन था। 600 ईसा पूर्व के कई जनपद आगे बड़े राजनीतिक निकायों में विकसित हुए। इन राज्यों को बौद्ध परंपराओं में महाजनपद के रूप में जाना जाता है।

सोलह महान राज्यों के रूप में वे बौद्ध और अन्य ग्रंथों द्वारा संदर्भित हैं। सोलह महाजनपदों में कासी, कोसल, अंग, मगध, वज्जि, मल्ल, चेदि, वत्स, कुरु, पांचाल, मच्छ, सूरसेन, अश्मक, अवंती, गांधार और कंबोज शामिल हैं।

काशी- इस महाजनपद की राजधानी वाराणसी थी। ऐसी मान्यता है कि वाराणसी को इसका नाम वरुणा और असि नामक शहर से घिरी नदियों से मिला था। बुद्ध के उदय से पहले, काशी ने सोलह महाजनपदों में प्रमुख स्थान पर कब्जा किया था। इस वर्चस्व ने काशी के साथ कोसल, अंगा और मगध जैसे अन्य शहरों के बीच महारत हासिल करने के लिए लंबे समय तक संघर्ष का आह्वान किया।

कोसल: सोलह महाजनपदों में, कोसल एक है, जिसमें श्रावस्ती, कुशावती, साकेत और अयोध्या शामिल थे। कोशल आधुनिक अवध या अवध के प्रदेशों का गठन करता था जो उत्तर प्रदेश में स्थित है। कोसल की राज्य की राजधानी अयोध्या थी जो गौतम बुद्ध के समकालीन प्रसेनजित कमान में थी। दक्षिण की ओर यह गंगा से घिरा था, पूर्व में इसके चारों ओर गंडक नदी थी। मगध कोसल का पड़ोसी राज्य था, और उनके बीच संघर्ष थे।

अंग: भारत का प्रारंभिक साम्राज्य गंगा के मैदानों के आसपास विकसित हो रहा था, जिसमें महाजनपद शामिल थे। अंग इन विकसित राज्यों में से एक था, जो उस अवधि के दौरान समृद्ध सोलह महाजनपदों में से एक है। मालिनी, चंपापुरी, चम्पा मालिनी, काला मालिनी आदि अलग-अलग नाम थे जिनके द्वारा इस संप्रदाय को कहा जाता था। हिरासत में लिए गए लोगों के रूप में सबसे पहले अंग को अथर्ववेद में संदर्भित किया गया था। अथर्ववेद अंग को एक अपवित्र स्थान मानता है और कुछ ने इसे एक ऐसी जगह के रूप में भी निंदा की जहां पत्नियों और बच्चों को बेचा गया था। महाभारत, अंगा के लोगों को महान जन्म या 'सुजाती' होने की गवाही देता है, जो चंपा की पवित्रता को तीर्थ के रूप में घोषित करता है। बिम्बिसार के शासनकाल के दौरान, इस महाजनपद को मगध द्वारा हड़प लिया गया था। चंपा भी जैन धर्म और बौद्ध धर्म के प्रसार की एक प्रमुख सीट थी।

मगध: मगध बिम्बिसार और उनके पुत्र अजातशत्रु के शासनकाल में एक शक्तिशाली राज्य के रूप में उभरा। महाभारत और पुराणों के अनुसार सबसे पहला शासक वंश राजा बृहद्रथ द्वारा स्थापित किया गया लगता है। वेदों में मगध का उल्लेख अर्ध `ब्राह्मणकृत 'के रूप में किया गया है और यह लोगों के इतने अच्छे प्रभाव का कारण नहीं था। याकाका के अनुसार किकाता एक गैर आर्य देश था और राजा प्रमगंद को किकाटा का शासक कहा जाता है। दूसरी ओर किकाता को बाद के वैदिक साहित्य में मगध का पर्याय माना जाता था।

शहर को मगधपुरा, बृहद्रथपुरा, वसुमती, कुशाग्रपुरा और बिम्बिसारपुरी जैसे कई अन्य नामों से जाना जाता था। बौद्ध धर्म और जैन धर्म उस समय धार्मिक परिदृश्य में प्रचलित थे, और मगध जैन धर्म का एक गतिशील केंद्र बन गया, साथ ही पहली बुद्धवादी परिषद राजगृह में वैभरा पहाड़ियों में आयोजित की गई थी।

वज्जि- प्राचीन भारत के सोलह महाजनपदमें एक वज्जि भी था। वज्जि एक संघ था, जिसके कई वंशज थे, लिच्छवि, वेदहंस, ज्ञानत्रिक और वज्जि सबसे महत्वपूर्ण थे। यह वास्तव में वज्जि संघ के रूप में जाना जाता था, जिसमें कई जनपद, ग्राम (गाँव), गोष्ठ (समूह) शामिल थे। प्रख्यात लोगों को प्रत्येक खंड (जिलों) से वज्जी गण परिशद (लोगजी की परिषद) का प्रतिनिधित्व करने के लिए चुना गया था। परिषद के अध्यक्ष को गणप्रमुख (लोकतंत्र के प्रमुख) कहा जाता था, लेकिन अक्सर उन्हें राजा के रूप में संबोधित किया जाता था। इसकी राजधानी वैशाली में थी।

मल्ल: मल्ल भारत में एक प्राचीन राजवंश था और सोलह महाजनपदों में से एक है। महाभारत जैसे महाकाव्यों में उल्लेख है कि मल्ल को अंगास, वनगास और कलिंग की जनजातियों के साथ माना जाता था। बौद्ध और जैन कृतियों में मल्लाओं का उल्लेख है जो एक गणराज्य में मौजूद थे जिसमें नौ प्रदेश शामिल थे। अधिक मूल संदर्भ में यह स्पष्ट है कि उनके पास वास्तव में शुरुआत में सरकार का एक राजतंत्रीय रूप था, लेकिन बाद में वे गणतंत्र के रूप में परिवर्तित हो गए। मल्ल बहुत ही युद्धप्रिय और बहादुर लोग थे और उन्हें मनुस्मृति द्वारा वैतरणी क्षत्रिय के रूप में उल्लिखित और उल्लिखित किया गया है, जैसा कि महापर्वनिबाण सुत्तंत में वशिष्ठ के रूप में है। बुद्ध की मृत्यु के बाद मगध साम्राज्य द्वारा मल्ल का भी वर्चस्व रहा है।

चेदि: चेदि भारत के प्राचीन लोगों का समूह था जो यमुना नदी के दक्षिण में रहते थे। ऋग्वेद में उनका उल्लेख है, और सुक्तिमती नामक शहर का उल्लेख चेदि की राजधानी के रूप में किया गया है। चेदि राज्य सोलह महाजनपदों में से एक था, और मगध के जरासंध के सहयोगी और कुरु के दुर्योधन के सहयोगी शिशुपाल द्वारा शासित था। कुरुक्षेत्र युद्ध के दौरान प्रमुख चेदि में दमघोषा, शिशुपाल, धृष्टकेतु, सुकेतु, सरभ, भीम की पत्नी इत्यादि शामिल थे। चेदि वह स्थान था जिसे पांडवों द्वारा निर्वासन के 13 वें वर्ष में खर्च करने के लिए चुना गया था।

वत्स- वत्स वह राज्य था जो सरकार के राजतंत्रीय रूप का अनुसरण करता था। यह राज्य सोलह महाजनपदों में से एक है, और इस की राजधानी कौशांबी में स्थित थी। इस शहर का एक बहुत महत्वपूर्ण पहलू यह था कि यह सभी आर्थिक गतिविधियों का केंद्र बना और एक समृद्ध व्यापार और व्यापारिक संबंध थे। 6 वीं शताब्दी ई.पू. में बुद्ध के समय के शासक होने के लिए उदयन का खाता है। उदयन के बारे में कहा जाता है कि पहले बुध्द के बारे में उसके पक्ष में आक्रोश था क्योंकि वह बहुत ही युद्धप्रिय और आक्रामक था, लेकिन बाद के वर्षों में बुद्ध के प्रति अधिक सहिष्णु और निष्ठावान बन गया। उनकी शिक्षाओं से इतना प्रभावित हुए कि उन्होंने बुद्धत्व को अपना राज्य धर्म बना लिया।

कुरु: कुरु जनपद सोलह महाजनपदों में से एक था। कौरवों की उत्पत्ति के बारे में कहा गया है कि वे पुरु-भरत परिवार के हैं। कुरुक्षेत्र कुरुक्षेत्र में रहने वाले लोगों की विशिष्ट उत्पत्ति थी और बौद्ध ग्रंथ सुमंगविलासिनी के अनुसार, कुरु उत्तराखंड से आए थे। वायु पुराण द्वारा प्रमाणित, कुरुक्षेत्र या कुरु जनपद के संस्थापक कुरु थे जो पुरु वंश के संवत्सर के पुत्र थे। माना जाता है कि छठी / पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व के दौरान, कौरवों को सरकार के गणतंत्र रूप में स्थानांतरित कर दिया गया था।

पांचाल- पांचाल को उत्तर पांचाल और दक्षिण-पांचाल में विभाजित किया गया था। सोलह महाजनपदों में गिने जाने वाले, उत्तरी पंचाल में छत्रवती थी और दक्षिण में इसकी राजधानी कांपिल्य थी। पांचाल में कन्याकुब्ज का शहर स्थित था। कई अन्य राज्यों की तरह, यह देखा गया कि पांचाल छठी शताब्दी में छठी और पांचवीं शताब्दी ईसा पूर्व में एक राजशाही सरकार के रूप में स्थानांतरित हो गई थी।

मच्छ या मत्स्य: मत्स्य राज्य फिर से छठे महाजनपद का एक महत्वपूर्ण हिस्सा था। यह कौरवों के दक्षिण में और यमुना के पश्चिम में था जिसने उन्हें पांचालों से अलग कर दिया। अन्य जनपदों की तुलना में मत्स्य जनजाति बुद्ध की आयु के दौरान बहुत अधिक राजनैतिक नहीं थी। मत्स्य और चेदि का यहां एक संबंध है जब हम देखते हैं कि वे एक ही राजा सुजाता द्वारा शासित थे, और मत्स्य एक राजा चेदि के राज्य का एक हिस्सा था।

सूरसेन- सूरसेन का राज्य, धर्म के मामले में बहुत अधिक कायापलट से गुज़रा। जो राजधानी मथुरा थी, वह मेगस्थनीज के समय कृष्ण पूजा का केंद्र थी। जबकि अवंतीपुरा जो सूरसेन का राजा था, बुद्ध के पहले वंशजों में से एक था, और तब से मथुरा में इसे प्रमुखता मिली। सोलह महाजनपदों के बीच इस राज्य की भौगोलिक स्थिति मत्स्य के दक्षिण में और यमुना नदी के पश्चिम में थी। वहाँ विभिन्न जनजाति थीं जो निवास स्थान में थीं और वे एक प्रमुख के नेतृत्व में थे।

अश्मक- अश्माक का साम्राज्य भारत के दक्षिणी भाग और सोलह महाजनपदों में से एक में स्थित था। अश्मका की अपनी राजधानी पोतन या पोताली में स्थित थी, जो महाभारत के पौदन्य से मिलती जुलती है। असेकस को उत्तर-पश्चिम में मार्केंडेय पुराण और ब्राह्म संहिता में रखा गया है। असक की पहचान के संबंध में कई संघ हैं। इसीलिए इस पर हमारे अलग-अलग विचार हैं। जैसे कि अकुटिल्य के अर्थशास्त्री के समालोचक ने महाराष्ट्र से इसकी पहचान की।

अवंती: अवंती सोलह महाजनपदों का एक महत्वपूर्ण राज्य था, और यह भारत के पश्चिमी भाग में स्थित था। इस राज्य में बौद्ध धर्म प्रमुखता से उभरा और यह अन्य राज्यों में से एक था जिसने बौद्ध धर्म की शुरुआत बड़े पैमाने पर की थी। राज्य को उत्तर और दक्षिण अवंती के रूप में विभाजित किया गया था और उत्तर की राजधानी उज्जैनी में थी। माहिष्मती शुरुआत में अवंती की राजधानी थी जिसे महावीर और बुद्ध के काल में उज्जैन में एकीकृत किया गया था। इतिहास के बाद के चरणों में अवंती को शिशुनाग के शासन के तहत मगध साम्राज्य में मिला दिया गया था।

गांधार: गांधार राज्य युद्ध कला में अत्यधिक प्रशिक्षित थे और उनका अथर्ववेद में भी उल्लेख है। हालांकि वेदों में उन्हें गैर आर्यन समूह के प्रति निष्ठा के कारण कुछ अन्य लोगों के साथ तिरस्कृत लोगों के रूप में उल्लेख किया गया है। पुराणिक और बुद्धिवादी परंपरा में उत्तरापथ में गांधार शामिल थे। सोलह महाजनपदों के गांधार राज्य की स्थापना गांधार ने, अरुधा के पुत्र, जो ययाति के पुत्र थे, द्वारा की थी। एक बार गांधार जातक के अनुसार यह माना जाता था कि वे कश्मीर का हिस्सा थे। गांधार अंतर्राष्ट्रीय वाणिज्यिक गतिविधियों की एक महत्वपूर्ण सीट थी, और ईरान और मध्य एशिया जैसे अन्य देशों के साथ संचार प्रदान करती थी।

कम्बोज: कम्बोज को माना जाता था कि वे ऐसे भागों से बने थे जो हिंदुकुश के दोनों ओर थे। सोलह महाजनपदों में से एक काम्बोज युगों से एक गणराज्य था।
मगध समय के साथ एक बहुत शक्तिशाली महाजनपद के रूप में उभरा।

छठी शताब्दी ईसा पूर्व में भारतीय राज्य निर्माण: महाजनपदों के उदय की बहुआयामी स्थितियाँ और मगध के उत्कर्ष का निर्णायक विश्लेषण

I. भूमिका: वैदिक युग से क्षेत्रीय राज्यों तक संक्रमण

भारतीय इतिहास में छठी शताब्दी ईसा पूर्व को एक युगांतरकारी काल माना जाता है, जो 'द्वितीय नगरीकरण' के उदय और क्षेत्रीय राज्यों, जिन्हें महाजनपद कहा गया, के अभ्युदय का साक्षी बना [1]। यह कालखंड एक गहन सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संक्रमण को दर्शाता है, जिसमें ऋग्वैदिक काल (1500-1000 ईसा पूर्व) की कबीलाई व्यवस्था और उत्तर वैदिक काल (1000-600 ईसा पूर्व) की कृषि-पशुपालन मिश्रित संस्कृति से एक अधिक जटिल, क्षेत्रीय और कृषि-प्रधान अर्थव्यवस्था में रूपांतरण हुआ [3]।

उत्तर वैदिक काल में आर्य संस्कृति का भौगोलिक केंद्र सप्तसिंधु प्रदेश से खिसक कर गंगा-यमुना दोआब क्षेत्र में स्थापित हो चुका था [3]। इस अवधि के अंत तक, अनेक 'जन' (जनजातीय समूह) ने क्षेत्रीय निष्ठा स्थापित करते हुए 'जनपद' का रूप धारण कर लिया। ये जनपद कालांतर में 16 शक्तिशाली 'महाजनपदों' में विकसित हुए [6]। इन 16 महाजनपदों में प्रमुख रूप से 14 राजतंत्र (जैसे मगध, कोशल, अवंति) थे, जहाँ वंशानुगत राजा का शासन था, जबकि शेष दो गणसंघ (जैसे वज्जि और मल्ल) थे, जहाँ शासन परिषद या 'गण' के माध्यम से संचालित होता था [7]।

यह संक्रमण केवल राजनीतिक विस्तार तक सीमित नहीं था; इसने वैदिक धर्म की मान्यताओं को भी प्रभावित किया। ऋग्वैदिक काल के प्रमुख देवता, इंद्र (युद्ध और वर्षा के देवता, 250 सूक्त) और अग्नि (200 सूक्त), जिनका महत्व कबीलाई संघर्षों और यज्ञों में अत्यधिक था, उत्तर वैदिक काल में गौण होने लगे [13]। इसके स्थान पर प्रजापति (सृष्टिकर्ता), विष्णु (संरक्षक), और रुद्र का महत्व बढ़ा [3]। यह परिवर्तन स्पष्ट रूप से एक ऐसे समाज की ओर इशारा करता है जो अब अस्थिर जनजातीय युद्धों (*गविष्टि* या गायों की खोज) [15] के बजाय स्थायी कृषि, व्यवस्थित संरक्षण, और जटिल अनुष्ठानों पर आधारित था [16]। राज्य निर्माण के लिए प्रशासनिक और सामाजिक व्यवस्था को सुदृढ़ करने वाले देवता अधिक प्रासंगिक हो गए, जो महाजनपदों के उदय के साथ आवश्यक नई सामाजिक संरचनाओं की ओर संकेत करता है।

II. महाजनपदों के उदय के मूलभूत स्थितियाँ

महाजनपदों के उदय की जड़ें छठी शताब्दी ईसा पूर्व की भौतिक संस्कृति और नवीन राजनीतिक अनिवार्यताओं में निहित थीं। लोहे के व्यापक उपयोग और कृषि उत्पादन में क्रांति ने इस जटिल राज्य निर्माण की प्रक्रिया के लिए आर्थिक आधार प्रदान किया।

II.1. लौह क्रांति और कृषि अधिशेष का आधार

महाजनपदों के उदय का सबसे महत्वपूर्ण भौतिक कारक लौह प्रौद्योगिकी का व्यापक अनुप्रयोग था। पुरातात्विक साक्ष्यों से पता चलता है कि लोहे का प्रयोग (जिसे उत्तर वैदिक ग्रंथों में 'श्याम अयस' या 'कृष्ण अयस' कहा जाता था) लगभग 1000 ईसा पूर्व के आसपास उत्तर प्रदेश के अतरंजीखेड़ा जैसे स्थलों से मिलना शुरू हो गया था [18]।

उत्तर वैदिक काल के बाद, विशेष रूप से गंगा घाटी में, लोहे के औजारों (जैसे हल के फाल, फावड़े, और कुल्हाड़ियाँ) का उपयोग निर्णायक सिद्ध हुआ। इन कठोर उपकरणों के कारण गंगा-यमुना दोआब के घने जंगलों को साफ करना और कठोर भूमि की गहरी जुताई करना संभव हो पाया [1]। इस तकनीकी प्रगति के फलस्वरूप कृषि उत्पादन में अभूतपूर्व वृद्धि हुई, जिससे "अधिशेष स्तर" का उत्पादन संभव हो सका [19]।

इस अधिशेष उत्पादन ने समाज पर दोतरफा प्रभाव डाला। एक ओर, यह अधिशेष गैर-उत्पादक समूहों—जैसे प्रशासकों, पुरोहितों, और सबसे महत्वपूर्ण, स्थायी सेना—को बनाए रखने का आर्थिक आधार बना [19]। दूसरी ओर, लौह अयस्क तक पहुंच ने सैन्य श्रेष्ठता के लिए मजबूत हथियार (लोहे के तीर और तलवारें) बड़ी मात्रा में उत्पादित करने की क्षमता दी [20]। यह दोहरा लाभ, जिसमें एक साथ कृषि विस्तार और सैन्य शक्ति का विकास संभव हुआ, उन महाजनपदों के लिए निर्णायक सिद्ध हुआ जो खनिज समृद्ध क्षेत्रों के निकट स्थित थे, जैसे कि मगध।

II.2. द्वितीय नगरीकरण और भौतिक संस्कृति

कृषि अधिशेष ने व्यापार और शिल्प विशेषज्ञता को बढ़ावा दिया, जिससे 'द्वितीय नगरीकरण' का मार्ग प्रशस्त हुआ। इस काल की भौतिक संस्कृति उत्तरी काले चमकीले मृद्भांड (NBPW) से पहचानी जाती है [21]। यह मृद्भांड, अपनी उत्कृष्ट चमक और रासायनिक पदार्थों के उपयोग के कारण, सभी तत्कालीन मृद्भांडों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता था [8]। इसके प्रमुख केंद्र कौशाम्बी, अहिच्छत्र, और पूर्वी उत्तर प्रदेश/बिहार के क्षेत्र थे [21]।

ये नए नगरीय केंद्र, जिन्हें बौद्ध ग्रंथों में *अग्गनगर* भी कहा गया है, राजनीतिक और व्यापारिक कॉलोनियों के रूप में विकसित हुए [23]। शहरों में किलेबंदी (जैसे कौशाम्बी में मिट्टी की किलाबंदी) [9] और व्यापारिक गतिविधियों का प्रभुत्व था [8]। व्यापारिक नेटवर्क मजबूत हुए, और इस आर्थिक स्थिरता को सिक्का-निर्माण (आहत सिक्के) ने और सुगम बनाया [24]। यह संगठित नगरीय जीवन, आर्थिक संपन्नता और शिल्प विशेषज्ञता (बढ़ई, धातु कर्मी, स्वर्णकार) [4] ने महाजनपदों को एक सुदृढ़ और जटिल प्रशासनिक संरचना स्थापित करने का आधार दिया [4]।

II.3. राजनीतिक केंद्रीकरण और प्रशासनिक संरचनाएँ

उत्तर वैदिक काल के बाद राजनीतिक व्यवस्था में एक मौलिक परिवर्तन आया। ऋग्वैदिक काल की समतावादी (तुलनात्मक रूप से) और लोकतांत्रिक संस्थाएँ, जैसे सभा, समिति [4], और विशेष रूप से *विदथ* (जहाँ स्त्री-पुरुष मिलकर सामाजिक-आर्थिक निर्णय लेते थे) [26], उत्तर वैदिक काल के अंत तक लगभग समाप्त हो गईं [5]।

इसके विपरीत, क्षेत्रीय संप्रभुता (Territorial Sovereignty) के सिद्धांत पर आधारित राजतंत्रों का उदय हुआ [6]। राजा की शक्ति बढ़ी, जिसे बनाए रखने के लिए एक जटिल प्रशासनिक मशीनरी की आवश्यकता हुई। *महामात्र* (उच्च रैंक के अधिकारी) और *ग्रामक* (गाँव के मुखिया) जैसे अधिकारी कार्यकारी, न्यायिक और सैन्य भूमिकाएँ संभालते थे [27]।

राज्य के व्यय को पूरा करने के लिए कराधान प्रणाली में भी परिवर्तन आया। ऋग्वैदिक काल में जहाँ 'बलि' स्वैच्छिक भेंट होती थी, वहीं महाजनपद काल में 'बलि' और 'भाग' जैसे कर नियमित और अनिवार्य

हो गए[4]। इस नियमित कर संग्रह ने राजाओं को स्थायी सेना (Standing Army) बनाए रखने में मदद की[6]। यह स्थायी सैन्य बल, जो कबीलाई मिलिशिया की तुलना में अधिक भरोसेमंद और अनुशासित था, क्षेत्रीय प्रभुत्व स्थापित करने के लिए आवश्यक था[24]।

इस आर्थिक क्रांति का एक और महत्वपूर्ण परिणाम सामाजिक संरचना में परिलक्षित हुआ। कृषि अधिशेष की बढ़ती मात्रा के कारण सामाजिक स्तरीकरण भी कठोर होता गया। इस अधिशेष के बड़े हिस्से पर कब्जा जमाने के लिए गैर-उत्पादक समूहों को विशिष्ट सामाजिक पद और विशेषाधिकार प्राप्त हुए[19]। इसलिए, उत्तर वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था की जटिलता केवल धार्मिक नहीं, बल्कि आर्थिक रूप से प्रेरित थी, जिसने पुरोहितों और क्षत्रियों की उच्च स्थिति को संस्थागत रूप दिया[25]।

III. महाजनपद काल की राजनीतिक संरचनाएँ और संघर्ष

महाजनपद काल का राजनीतिक मानचित्र दो मुख्य प्रकार की शासन प्रणालियों—राजतंत्र और गणसंघ—से परिभाषित होता था। इन 16 महाजनपदों का विस्तार भारत के उत्तर-पश्चिमी छोर (गांधार, कम्बोज) से लेकर सुदूर दक्षिण (अस्मक) तक था[6]।

राजतंत्रों (जैसे मगध, कोशल, वत्स) में सत्ता राजा के हाथों में केंद्रीकृत थी, जबकि गणसंघों (जैसे वज्जि और मल्ल) में निर्णय प्रक्रिया सभा या परिषद के माध्यम से होती थी, जिससे शासन में सहभागिता बनी रहती थी[24]। वज्जि संघ (जिसकी राजधानी वैशाली थी) आठ राज्यों का एक महत्वपूर्ण संघ था[30]।

यद्यपि गणसंघों में सहभागी शासन के लोकतांत्रिक तत्व मौजूद थे, अंतर-महाजनपद संघर्षों के इस दौर में केंद्रीकृत राजतंत्रों ने प्रभावी ढंग से अपनी श्रेष्ठता सिद्ध की। राजतंत्रों ने अनिवार्य कराधान (*बलि* और *भाग*) के माध्यम से संसाधनों का कुशलतापूर्वक संग्रहण किया[29]। इस वित्तीय आधार पर नियमित वेतन वाली स्थायी सेना का रखरखाव संभव हुआ। यह स्थायी सैन्य बल कबीलाई मिलिशिया पर निर्भर गणसंघों की तुलना में संगठित और प्रभावी था, जिसने क्षेत्रीय संप्रभुता को मजबूत करने के लिए निर्णायक क्षमता प्रदान की[6]।

केंद्रीकृत शक्ति, स्थायी सेना और प्रभावी प्रशासन के कारण राजतंत्रों ने धीरे-धीरे गणसंघों को विजित करना शुरू कर दिया। मगध और कोसल जैसे शक्तिशाली राजतंत्रों के बीच प्रभुत्व के लिए संघर्ष आम बात थी[24], जिसने अंततः मगध को शेष सभी राज्यों पर विजय प्राप्त करने का मार्ग दिखाया।

IV. मगध साम्राज्य का अद्वितीय उत्कर्ष: कारकों का बहु-आयामी विश्लेषण

छठी शताब्दी ईसा पूर्व में मगध का उत्कर्ष भारतीय इतिहास का एक निर्णायक अध्याय है। मगध की सफलता किसी एक कारण पर नहीं, बल्कि भौगोलिक लाभ, तकनीकी श्रेष्ठता, राजनीतिक दूरदर्शिता और सामाजिक उदारता के एक जटिल और गतिशील मिश्रण पर आधारित थी।

IV.1. अद्वितीय भौगोलिक और संसाधन लाभ

मगध की भौगोलिक स्थिति उसे अन्य महाजनपदों पर एक स्वाभाविक बढ़त प्रदान करती थी:

1. सामरिक राजधानियाँ

मगध की प्रारंभिक राजधानी राजगृह (गिरिव्रज) थी, जो पाँच पहाड़ियों से घिरी होने के कारण प्राकृतिक रूप से सुरक्षित थी [10]। बाद में, राजा उदायिन ने गंगा और सोन नदियों के संगम पर पाटलिपुत्र नामक नगर की स्थापना की [10]। पाटलिपुत्र को एक नदी दुर्ग (water fort) का सामरिक लाभ प्राप्त था, जिसने इसे शत्रुओं के लिए अभेद्य बना दिया और इसे जलमार्गों से होने वाले व्यापार पर नियंत्रण स्थापित करने में सहायता की [10]।

2. लौह अयस्क और सैन्य-प्रौद्योगिकी कॉम्प्लेक्स

मगध, दक्षिणी बिहार (आधुनिक झारखंड के निकट) के लौह अयस्क भंडारों के सबसे करीब स्थित था [20]। यह निकटता मगध को अन्य राज्यों की तुलना में सस्ता और प्रचुर मात्रा में लोहा प्रदान करती थी। इस लोहे का उपयोग न केवल कृषि उपकरणों के लिए किया गया, जिससे विशाल कृषि अधिशेष प्राप्त हुआ, बल्कि उत्कृष्ट सैन्य उपकरणों (तलवारें, तीर की नोकें) के उत्पादन में भी इसका निर्णायक योगदान था [33]। इस लौह-आधारित सैन्य-प्रौद्योगिकी श्रेष्ठता ने क्षेत्रीय संघर्षों में मगध को एक निर्णायक बढ़त प्रदान की।

3. कृषि समृद्धि और हाथियों की उपलब्धता

मगध गंगा-सोन दोआब के केंद्र में स्थित था, जिसकी अत्यधिक उपजाऊ भूमि विशाल कृषि अधिशेष पैदा करती थी [10]। यह अधिशेष, स्थायी सेना और प्रशासन के रखरखाव के लिए आवश्यक वित्तीय आधार बना। इसके अलावा, आस-पास के घने जंगल इमारती लकड़ी और, सबसे महत्वपूर्ण, युद्ध में उपयोग किए जाने वाले **हाथियों** का एक सतत स्रोत थे [10]। मगध की सेना में हाथियों का बड़े पैमाने पर प्रयोग एक नवीन और दुर्जेय सैन्य रणनीति थी, विशेष रूप से दलदली और नदी-तट के क्षेत्रों में, जहाँ ये भारी जानवर अद्वितीय युद्ध क्षमता प्रदान करते थे [10]।

IV.2. गतिशील राजनीतिक नेतृत्व और सैन्य नवाचार

मगध का उत्कर्ष हर्यंक वंश, शिशुनाग वंश और नंद वंश के कुशल और महत्वाकांक्षी शासकों की एक श्रृंखला द्वारा संचालित था [12]।

1. बिम्बिसार और कूटनीति

हर्यंक वंश के संस्थापक बिम्बिसार (545–493 ईसा पूर्व) ने मगध के उभार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई [28]। उसने आक्रामक विजय (जैसे अंग राज्य पर) और वैवाहिक गठबंधनों का चतुराई से उपयोग किया [28]। कोसल के राजा प्रसेनजीत की बहन महाकोषला से विवाह करके उसने दहेज में काशी जैसे महत्वपूर्ण क्षेत्र को प्राप्त किया [28]। उसने एक विदेहन राजकुमारी और खेमा, जो मध्य पंजाब के मद्र राजा की बेटी थीं, से भी विवाह किया [28]। बिम्बिसार ने अवंति के राजा प्रद्योत से भी मैत्रीपूर्ण संबंध बनाए रखे [28]।

2. अजातशत्रु और तकनीकी युद्ध

बिम्बिसार के बाद अजातशत्रु (493–462 ईसा पूर्व) ने साम्राज्य विस्तार को चरमोत्कर्ष तक पहुँचाया [28]। उसका सबसे महत्वपूर्ण सैन्य अभियान वज्जि संघ (आठ राज्यों का संघ) के विरुद्ध था [30]। इस निर्णायक युद्ध में अजातशत्रु ने दो अत्यंत नवीन और विनाशकारी सैन्य तकनीकों—**रथमुसल** (रथ में लगा गदा जैसा हथियार) और **महाशिलाकंटक** (पत्थर फेंकने वाला युद्ध यंत्र)—का व्यापक पैमाने पर प्रयोग किया [30]। अजातशत्रु के शासन के आठवें वर्ष में बुद्ध को महापरिनिर्वाण प्राप्त हुआ, जिसके बाद उसने उनके अवशेषों पर राजगृह में एक स्तूप का निर्माण करवाया और प्रथम बौद्ध संगीति का आयोजन भी राजगृह की सप्तपर्णी गुफा में किया [35]।

3. नंदों का केंद्रीकरण और 'एकराट' की उपाधि

नंद वंश (364/345–324 ईसा पूर्व) के संस्थापक महापद्मनंद ने मगध साम्राज्य को और भी केंद्रीकृत और विशाल बनाया [28]। उन्हें शूद्र कुल का माना जाता था, जिसने उन्हें वर्ण व्यवस्था परक समाज में अप्रिय बनाया [37]। इसके बावजूद, उन्होंने 'एकछत्र शासन' की स्थापना की और विंध्य पर्वत के दक्षिण तक अपनी विजय पताका फहराई [37]। नंदों की यह "परंपरा-विरुद्ध" प्रवृत्ति दर्शाती है कि मगध के राजनीतिक नेतृत्व ने सामाजिक उत्पत्ति की तुलना में प्रशासनिक और सैन्य प्रतिभा को प्राथमिकता दी [37]।

IV.3. सामाजिक-धार्मिक लचीलापन

मगध की भौगोलिक स्थिति, जो पूर्वी भारत में स्थित थी, ने इसे उत्तर वैदिक काल के कुरु-पांचाल क्षेत्र की ब्राह्मणवादी कर्मकांडों और जातिगत कठोरता से अपेक्षाकृत मुक्त रखा [11]।

1. ब्राह्मणवादी प्रभाव की कमी

मगध पर ब्राह्मणों का प्रभाव कम था, जिसके कारण मगध ने अत्यधिक महंगे और संसाधन-खर्चीले वैदिक कर्मकांडों (जैसे अश्वमेध यज्ञ) [38] से खुद को मुक्त रखा। इससे राज्य के मूल्यवान संसाधन बच गए। यह धार्मिक 'हल्कापन' मगध को अन्य रूढ़िवादी राज्यों पर एक **सांस्कृतिक बढ़त** प्रदान करता था, जिससे राज्य अपने आर्थिक संसाधनों को अधिक उत्पादक क्षेत्रों (सैन्य और प्रशासन) में निवेश कर सका।

2. श्रमण परंपराओं का संरक्षण

ब्राह्मणवादी प्रभुत्व के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में उभरे बौद्ध धर्म और जैन धर्म का उत्थान मगध क्षेत्र में हुआ [39]। इन धर्मों ने अहिंसक, शांतिपूर्ण, और समतामूलक समाज पर बल दिया [11]। मगध के शासकों ने इन श्रमण परंपराओं को संरक्षण दिया। इन धर्मों ने वाणिज्यिक गतिविधियों को प्रोत्साहित किया और वैश्य (व्यापारी) समुदाय तथा निम्न वर्गों के बीच अत्यधिक लोकप्रियता हासिल की [11]। इस वैश्य समुदाय का समर्थन मगध के व्यापारिक और आर्थिक उत्थान का आधार बना।

मगध के उत्कर्ष में सहायक कारकों का संश्लेषण निम्नलिखित सारणी में प्रस्तुत है:

मगध के उत्थान के निर्णायक विशिष्ट कारक

कारक की श्रेणी	मगध का विशिष्ट लाभ	साक्ष्य/संदर्भ	रणनीतिक महत्व
भौगोलिक (खनिज)	लौह अयस्क भंडारों की निकटता	'श्याम अयस' का उपयोग (अतरंजीखेड़ा, 1000 ई.पू. के संदर्भ में मगध की निकटता) [18]	श्रेष्ठ और सस्ते सैन्य उपकरण (तलवारें, तीर) प्रदान करना [33]।
भौगोलिक (सुरक्षा)	राजगृह (पहाड़) और पाटलिपुत्र (नदी संगम)	प्राकृतिक सुरक्षा, गंगा-सोन दोआब [10]	शत्रुओं के लिए दुर्गम, लंबे समय तक घेराबंदी का प्रतिरोध।
सैन्य (नवाचार)	हाथियों का बड़े पैमाने पर उपयोग	मगध सेना का दुर्जेय सैन्य बल [10]	मैदानी और जंगल क्षेत्रों में अद्वितीय युद्ध क्षमता।
सैन्य (प्रौद्योगिकी)	रथमुसल और महाशिलाकंटक	अजातशत्रु द्वारा वज्जि संघ पर प्रयोग [30]	युद्ध जीतने के लिए तकनीकी श्रेष्ठता का प्रदर्शन।
सामाजिक-धार्मिक	बौद्ध/जैन धर्म का संरक्षण	सामाजिक समता और वैश्य वर्ग का समर्थन [11]	रूढ़िवादी धार्मिक बोझ से मुक्ति और व्यापक सामाजिक आधार।
राजनीतिक (नेतृत्व)	कुशल एवं निर्दयी शासकों की शृंखला	बिम्बिसार, अजातशत्रु, महापद्मनंद [28]	वैवाहिक गठबंधन से लेकर साम्राज्य के एकीकरण ('एकराट') तक की सफल नीतियाँ [28]।

V. निष्कर्ष: मगध की विजय और भारतीय इतिहास पर इसका दूरगामी प्रभाव

महाजनपदों का उदय छठी शताब्दी ईसा पूर्व में भारत में राज्य निर्माण की प्रक्रिया का तार्किक परिणाम था, जो लौह प्रौद्योगिकी, कृषि अधिशेष और द्वितीय नगरीकरण के भौतिक आधारों पर स्थापित हुआ [1]। इस काल ने राजनीतिक शक्ति को कबीलाई पहचान से क्षेत्रीय संप्रभुता की ओर स्थानांतरित किया, जिसका प्रमाण स्थायी सेनाओं और नियमित कराधान (बलि और भाग) की संस्थागत स्थापना में मिलता है [6]।

मगध साम्राज्य का उत्कर्ष इन सभी कारकों का एक अद्वितीय संगम था। मगध की सफलता केवल "शक्तिशाली राजाओं" के कारण नहीं थी, बल्कि यह एक ऐसी राज्य व्यवस्था के कारण थी जिसने अपने प्रचुर भौगोलिक लाभों (लौह अयस्क, उपजाऊ भूमि, हाथी) [10] को नवीनतम सैन्य प्रौद्योगिकी (रथमुसल,

महाशिलाकंटक)[30] और एक लचीले सामाजिक-राजनीतिक ढांचे में कुशलता से बदला। इस कारण, मगध को भौगोलिक नियतिवाद और गतिशील नेतृत्व का सर्वोत्तम उदाहरण माना जा सकता है।

मगध द्वारा संसाधनों, प्रशासन और सैन्य शक्ति का जो तीव्र केंद्रीकरण किया गया, उसने आगे चलकर भारतीय उपमहाद्वीप में प्रथम महान और एकीकृत साम्राज्य, मौर्य साम्राज्य, के उदय के लिए एक अपरिहार्य संस्थागत, क्षेत्रीय और आर्थिक आधार तैयार किया[10]। इस प्रकार, मगध की विजय ने न केवल महाजनपद काल के संघर्षों का अंत किया, बल्कि भारतीय इतिहास की भावी दिशा को भी स्थायी रूप से निर्धारित कर दिया।

राकेश मोहन नौटियाल

वर्ण व्यवस्था क्या है? सिद्धांत, महत्व, दोष

वर्ण-व्यवस्था का सैद्धांतिक अर्थ हैः गुण, कर्म अथवा व्यवसाय पर आधारित समाज का चार मुख्य वर्णों मे विभाजन के आधार पर संगठन।

वर्ण का शाब्दिक अर्थ वरण करना या चयन करना है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था मे व्यवसाय के चयन के पश्चात ही उसका "वर्ण" निश्चित किया जाता था।

होकाटे के अनुसार " वर्ण तथा जाति की प्रकृति तथा कार्य समान है। दोनों मे नाम का अंतर है। पर प्रो. हट्टन ऐसा नही मानते। उन्होंने वर्ण तथा जाति को पृथक माना है।

सांख्य दर्शन के अनुसार " वर्ण का अर्थ रंग भी बताया गया है। वैदिक युग मे आर्यों का विभाजन, सम्भवतः " आर्य वर्ण " तथा दास वर्ण रहा था।

वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति संबंधी सिद्धांत निम्नलिखित हैं--

1. ऋग्वेद का सिद्धांत

ऋग्वेद आर्यों का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। ऋग्वेद मे वर्ण-व्यवस्था से सम्बंधित निम्न श्लोक है--

"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्म कृतः।
उरू तदस्य यद्वैश्य पदभ्यां शुद्रोऽजायत्।।"

इस श्लोक का अर्थ यह है कि विराट पुरूष (ईश्वर) के मुखारबिन्द से ब्राह्मण की उत्पत्ति हुई है। बाहु से क्षत्रिय, जंघाओं से वैश्य तथा पैरों से शुद्रों की उत्पत्ति हुई है। मुख का कार्य पढ़ाना, प्रवचन करना या भाषण देना है। अतः ब्राह्मणों का कार्य वेदों का पढ़ना तथा पढ़ना माना गया है। चूंकि क्षत्रियों की उत्पत्ति बाहुओं से मानी गयी है, अतः क्षत्रियों का धर्म युद्ध करना बताया गया है। जंघाओं से उत्पत्ति मानी जाने के कारण वैश्यों का कार्य उत्पादन करना है। अतः वैश्यों का कार्य कृषि तथा व्यापार करना बताया गया है। शुद्रों की उत्पत्ति पैरों से हुई मानी गयी है। पैरों का कार्य शरीर की सेवा करना है। इस प्रकार शुद्रों का कार्य तीनों वर्णों की सेवा करना है।

2. उपनिषदों का सिद्धांत

उपनिषदों मे भी वर्ण-व्यवस्था का सिद्धांत मिलता है। परन्तु उपनिषदों मे वर्णित वर्ण-व्यवस्था का सिद्धांत ऋग्वेदिक सिद्धांत से भिन्न है। उपनिषदों के अनुसार वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति देवताओं से हुई है। सबसे प्रथम ब्राह्मण उत्पन्न हुए। ब्राह्मणों की उत्पत्ति ब्रह्म नामक देवता से हुई थी। क्षत्रियों की उत्पत्ति रूद्र, इन्द्र, वरूण तथा यम देवताओं के संयोग से हुई मानी गई है। वैश्यों की उत्पत्ति, वसु, मारूत, रूद्ध तथा उदित देवताओं से मानी गयी है। शुद्रों की उत्पत्ति पूशन देवता से हुई मानी गयी है।

3. महाकाव्यों का सिद्धांत

वर्ण की उत्पत्ति का उल्लेख महाभारत के "शान्ति वर्व" मे मिलता है। महाभारत के अनुसार, ब्रह्म ने सर्वप्रथम ब्राह्मणों को उत्पन्न किया था। ब्राह्मण धर्मानुसार आचारण करते थे। परन्तु कुछ समय पश्चात इन ब्राह्मणों मे अलग-अलग गुणों तथा रंगों का विकास प्रारम्भ हो गया। ब्राह्मणों का इन्हीं गुणों के आधार पर अनेक वर्णों मे विभाजन कर दिया गया। यही वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शुद्र कहलाए। वर्णों का विभाजन चार रंगों अर्थात् श्वेत, लाल,

पीला तथा काले के आधार पर किया गया। इन रंगों का सम्बन्ध व्यक्ति के कर्म तथा गुणों से है। ब्राह्मणों का रंग श्वेत, क्षत्रियों का रंग लाल, वैश्यों का रंग पीला तथा शुद्रों का रंग काला माना गया है। ये रंग अलग-अलग वर्णों के प्रतीक है। श्वेत पवित्रता का लाल रंग क्रोध का, पीला रंग रजोगुण तथा तमोगुण का मिश्रण कहा गया है। काला रंग तमोगुण का द्योतक है।

4. स्मृतियों का सिद्धांत

मनुस्मृति के अनुसार " वर्ण " का सम्बन्ध " कर्म " से है। कर्म के कारण ही ब्राह्मणों को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया है। क्षत्रियों का स्थान ब्राह्मणों के पश्चात आता है। शुद्रों का स्थान सबसे नीचा माना गया है। इसी कारण सब वर्णों की सेवा करना उनका " धर्म " बताया गया है। मनु से सभी वर्णों के कार्य निश्चित किए है।

वर्ण व्यवस्था का महत्व अथवा गुण निम्नलिखित हैं--

1. वैयक्तिक उन्नति का अवसर

वर्ण व्यवस्था बहुत खुली व्यवस्था है जिसमे एक व्यक्ति को अपनी क्षमता व गुणों के आधार पर अपनी स्थिति उच्च करने का अधिकार और अवसर होता है।

2. शक्तियों का विकेन्द्रीकरण

सामाजिक जीवन मे चार प्रमुख शक्तियाँ कार्य करती है-- ज्ञान शक्ति, राज्य शक्ति, अर्थ शक्ति और श्रम श्रक्ति। समाज मे चारों शक्तियों के केन्दीयकरण का अर्थ होता है- निरंकुशता और शोषण। इनके अधिक बिखराव से सामाजिक संगठन और प्रगति मे बाधा पहुँचाने लगती है। आवश्यकता इस बात की होती है कि समाज मे इन शक्तियों के केन्द्रीयकरण को रोका जाय और इनके अधिक बिखराव को भी। दूसरे शब्दों मे, वैयक्तिक और सामूहिक दोनों दृष्टियों से अधिक हितकर यह है कि समाज मे इन शक्तियों का एक ऐसा विकेन्द्रीकरण हो जिसमे इनके बीच एक अपेक्षित मात्रा तक सामंजस्य, संगठन और समन्वय बना रहे। वर्ण व्यवस्था मे यह मे यह देखने को मिलता है।

3. श्रम विभाजन और विशेषीकरण

वर्ण-व्यवस्था सामाजिक श्रम विभाजन का एक अच्छा आदर्श प्रस्तुत करती है। अध्ययन व अध्यापन, सुरक्षा व प्रशासन, उत्पादन व व्यापार तथा इन सभी कार्यों मे आवश्यक शरीरिक श्रम सम्पादन के रूप मे वर्ण व्यवस्था समाज को क्रमशः चार प्रमुख वर्णों, बुद्धिजीवी, शासक, व्यापारी और शारीरिक श्रमजीवी मे विभाजत करती है।

4. समाज मे संघर्षों को मिटना

वर्ण व्यवस्था के कारण समाज मे सघर्ष की सम्भावना नही होती। इसका कारण यह है कि प्रत्येक वर्ण के कार्य निश्चित होते है। सभी व्यक्ति अपने लिए निर्धारित कार्य करते रहते है। अतः सामाजिक व्यवस्था सुचारू रूप से चलती रहती है।

5. सामाजिक अनुशासन

वर्ण व्यवस्था मे हर एक वर्ण के लिए पृथक धर्म का प्रावधान है, जिसका अनुसरण करना प्रत्येक व्यक्ति का आवश्यक कर्तव्य होता है। इससे समाज मे अनुशासन रहता है।

वर्ण व्यवस्था के कारण जब समाज चार भागों मे विभक्त हो गया तो लोगों की सामुदायिक भावना संकुचित हो गई और राष्ट्रीय एकता के मार्ग मे बाधाएं उत्पन्न हुई। फलस्वरूप

विदेशियों ने देश को गुलाम बनाकर सैकड़ों वर्षों तक शासन किया। इस व्यवस्था ने समाज मे एक बहुत बड़े भाग (शुद्र वर्ण) को विकास के समुचित अवसर नही दिए गए।
वर्ण व्यवस्था ने ही समाज मे अस्पृश्यता और शोषण को जन्म दिया।
आज एक ही वर्ण से सम्बंधित विभिन्न जातियां राजनीतिक स्वार्थों के लिए संगठित होकर प्रजातंत्र के स्वस्थ विकास मे बाधा पैदा कर रही है।

वर्ण व्यवस्था की विशेषताएं

वर्ण व्यवस्था की निम्नलिखित विशेषताएं हैं--

1. गुण-कर्म पर आधारित विभाजन

वर्ण-व्यवस्था सामाजिक विभाजन या वर्गीकरण की एक विशिष्ट व्यवस्था है। इस व्यवस्था में वर्गीकरण का आधार गुण-कर्म एवं व्यवसाय है। इसी आधार पर इस व्यवस्था के अन्तर्गत समाज को चार वर्णों (वर्गों) में विभक्त किया गया है। ये चार वर्ण हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र।

2. प्रेरणा

वर्ण व्यवस्था को कर्म के सिद्धांत से जोड़ा गया था। जो व्यक्ति अपने वर्ण धर्म का पालन करता था, उसे वर्तमान में तो प्रतिष्ठा मिलती ही थी साथ ही अगले जीवन में भी उसे इसका अच्छा फल मिलता था, ऐसी मान्यता थी। इस प्रेरणा से व्यक्ति निष्ठापूर्वक अपने वर्ण धर्म का पालन करता था।

3. अनुलोम विवाह की अनुमति

वर्ण-व्यवस्था में अनुलोम विवाह की अनुमति थी। अनुलोम-विवाह के अन्तर्गत उच्च वर्ण के पुरूष का निम्न वर्ण की कन्या से विवाह हो सकता है। इस मान्यता के अनुसार ब्राह्मण या क्षत्रिय वर्ण के पुरूष का विवाह वैश्य वर्ण की कन्या से संभव था। पाण्डव भीम क्षत्रिय थे परन्तु उनका विवाह हिडम्बना नामक स्त्री से हुआ था, जिसका पुत्र घटोत्कच था। घटोत्कच को क्षत्रिय वर्ण में ही सम्मिलित माना जाता था।

4. श्रम-विभाजन की तटस्थ प्रणाली

वर्ण-व्यवस्था मौलिक रूप से समाज में श्रम-विभाजन के लिए लागू की गयी थी। मौलिक रूप से वर्ण-व्यवस्था में ऊंच-नीच की भावना का पूर्ण अभाव था। इस प्रकार स्पष्ट है कि वर्ण-व्यवस्था सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था नही थी बल्कि सामाजिक विभेदीकरण की व्यवस्था थी।

5. व्यवसाय का पूर्व-निर्धारण

वर्ण-व्यवस्था की एक अन्य विशेषता यह थी कि चारों वर्णों के व्यवसाय पूर्व-निर्धारित थे। प्रारंभ में तो व्यवसायों एवं गुण कर्मों के आधार पर ही वर्ण निर्धारण होता था परन्तु आगे चलकर विभिन्न वर्णों के व्यवसाय भी आनुवांशिक रूप से निश्चित हो गये थे। ब्राह्मण वर्ण के व्यवसायों को शुद्र वर्ण के व्यक्ति नहीं अपना सकते थे तथा ब्राह्मण वर्ण के सदस्य शूद्रों के कार्यों को नहीं अपनाते थे।

6. शक्ति एवं अधिकारों का वितरण

वर्ण व्यवस्था में यद्यपि शक्ति और अधिकार की दृष्टि से ब्राह्मणों की स्थिति सर्वोच्च थी फिर भी अन्य वर्णों को सामाजिक दृष्टि से महत्व दिया गया था।

7. आध्यात्मिकता

वर्ण-व्यवस्था की एक उल्लेखनीय विशेषता इसकी आध्यात्मिकता भी हैं। वर्ण-व्यवस्था के माध्यम से व्यक्ति को कर्म-फल, पुनर्जन्म तथा मोक्ष आदि आध्यात्मिक सत्यों में विश्वास दिलाने का प्रयास किया जाता था। वर्ण-व्यवस्था के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के लिये वर्ण के कर्तव्यों का पालन करना अनिवार्य था। वर्ण-व्यवस्था व्यक्तिगत स्वतंत्रता की छूट नहीं देती इससे सामाजिक संघर्षों से बचाव होता हैं। इस प्रकार कहा जा सकता हैं कि वर्ण-व्यवस्था आध्यात्मिकता की पोषक व्यवस्था थी।

वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति के सिद्धांत

वर्ण शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'वृ' वरणे धातु से हुई है, जिसका अर्थ है 'चुनना' या 'वरण करना'। सम्भवतः 'वर्ण' से तात्पर्य 'वृति' या किसी विशेष व्यवसाय के चुनने से है। समाज शास्त्रीय भाषा में 'वर्ण' का अर्थ 'वर्ग' से है, जो अपने चुने हुए विशिष्ट व्यवसाय से आबद्ध है। वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत समाज का चार भागों में कार्यात्मक विभाजन किया जा सकता है, यथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र।

वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति

आर्य जब भारत वर्ष में आए उस समय त्वचाभेदक आधार (रंग के आधार पर भारतीय समाज दो वर्गों में विभक्त था, पहला आर्य तथा दूसरा अनार्य । ऋग्वेद के प्रारंभिक काल में भारतीय समाज में वर्ण-व्यवस्था जैसी कोई सामाजिक संस्था नहीं थी, लेकिन जब आर्यों का अनार्यों से संघर्ष हुआ तो उस समय आर्यों का समाज तीन वर्गों में विभाजित हो गया, पहला वर्ग जो देव पूजा, यज्ञ आदि धार्मिक कार्यों को करता था। दूसरा योद्धा वर्ग जो शुद्ध वीर होने के कारण अनार्यों से युद्ध तथा शेष आर्यों की रक्षा करता था। तीसरा विश् वर्ग जो पशुपालन एवं कृषि करके आर्यों के भरण-पोषण का दायित्व संभाल रहा था। समाज में ये ही तीनों वर्ग आगे चल कर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के नाम से अभिहित हुए। जब आर्यों ने अनार्यों को पराजित कर अपने वशीभूत कर लिया तथा धीरे-धीरे अनार्य उनके परिचारक (दास) बन गये और ये दस्यु बन गये तथा ऋग्वेद के उत्तर काल में शूद्र के नाम से अभिहित हुए और इस काल में चार वर्ग बन गए ।'

दैवी सिद्धांत के रूप में वर्ण व्यवस्था के उद्भव का वर्णन महाभारत में भी किया गया है, इसमें वर्णों की उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रीय, उरू (जंघा) से वैश्य और तीनों वर्णों के सेवार्थ पद (पैर) से शूद्र का निर्माण हुआ है। मनु ने वर्णों के उत्पत्ति विषयक वर्णन में लिखा है कि ब्रह्मा ने लोकवृद्धि के लिए ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य और शूद्र को क्रमशः मुख, बाहु, जंघा और चरण से निरवर्त किया है।' विष्णुपुराण में उल्लिखित है कि भगवान विष्णु के मुख, बाहू, जंघा और चरण से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य और शूद्र उद्गत हुए । मत्स्य पुराण में भी इसी प्रकार का वर्णन किया गया है तथा वायु और ब्रह्मांड पुराणों से भी यही परिलक्षित होता है कि चतुर्वर्णों की उत्पत्ति ब्रह्मा से हुई है। भारतीय धर्म - शास्त्रकारों

ने वर्णों की उत्पत्ति परमब्रह्म से स्वीकार की और इस वर्ण-व्यवस्था को आदि कालीन माना है।

दैवी सिद्धांत के अनुसार वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति

वर्ण-व्यवस्था के उत्पत्ति से सम्बन्धित दैवी सिद्धान्त के अनुसार चारो वर्णो की उत्पत्ति हुई है। मुख से ब्राह्मण, बाहुओं से क्षत्रिय, जंघाओं से वैश्य तथा पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए। वर्ण का अर्थ रंग भी होता है। आर्य श्वेत वर्ण के और आर्येतर कृष्ण वर्ण के थे। रंग के आधार पर आर्य एवं अनार्य अथवा शूद्र दो ही वर्ण थे। पुनः आर्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य तीन वर्ण हो गये इसके पीछे क्या सिद्धान्त था यह स्पष्ट नहीं है। गुणों के आधार पर वर्ण-व्यवस्था के अनुसार सत्वगुण की प्रधानता वाले वर्ण ब्राह्मण हैं, जिनमें रजोगुण की प्रधानता है वे क्षत्रिय हैं और जिनमें रजस् और तमस् की प्रधानता होती है वो वैश्य हैं। केवल तमस् गुण की प्रधानता वाले शूद्रवर्ण हैं। वर्ण विभाजन पहले व्यक्तिगत एवं मुक्त था। वर्ण-परिवर्तन सरल और सम्भव था, जो बाद में धीर-धीरे जटिल होता गया। पुराणों में भी कर्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है तथा यह माना गया है कि पूर्व जन्म के कर्मों के परिणामस्वरूप ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र उत्पन्न हुए।

वर्ण व्यवस्था के प्रकार

वर्ण से आशय समान व्यवस्था करने वाले व्यक्तियों के एक सामाजिक समूह से है। व्यवसाय व्यक्ति के गुण और कर्म पर निर्भर करता है। एक व्यक्ति में अनेक गुण हो सकते हैं, किन्तु व्यक्ति के व्यक्तित्व में उन गुणों के एक विशेष संगठन के रूप में प्रधानरूप से कौन सी शक्तियाँ कार्यरत हैं, वर्ण निर्धारण में मुख्यत: इस बात पर ध्यान दिया जाता है। प्रमुख गुण तीन हैं-सत् ,रज और तम। जिस व्यक्ति में रज और तम गुणों की तुलना में सत् प्रधान है वह ब्राह्मण है, रजो गुण प्रधानता का व्यक्ति क्षत्रिय, रजो और तमो मिश्रित गुण सम्पन्न व्यक्ति वैश्य और तमो गुण प्रधान शूद्र है। समाज को कार्यात्मक रूप से चार बड़े भागों में विभाजित किया गया है।

1. ब्राह्मण

समाज में प्राचीन काल से ही हिन्दू समाज में ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ माने जाते थे। आलोच्यकाल में भी ब्राह्मण वर्ग की प्रतिष्ठा एवं सर्वोच्चता समाज में बनी रही जिसका प्रमाण तत्कालीन भक्ति सन्तों द्वारा समय-समय पर ब्राह्मण विरोधी प्रचार था। वर्ण व्यवस्था का धर्म से निकट का संबंध था, अतः वेदों के अध्ययन-अध्यापन से लेकर समाज में होने वाले यज्ञ एवं धार्मिक कार्यों में ब्रह्मणों की ही प्रधानता थी । वह धार्मिक मामलों में पृथ्वी पर सभी प्राणियों का माग्रदर्शक समझा जाता था। ब्राह्मण की सर्वोच्चता उसके ज्ञान और विद्वत्ता के कारण ही थी। वह अपनी विद्वत्ता से समाज को शिक्षित करता था तथा अपनी याज्ञिक क्रिया से उसे धार्मिक बनाता था ।

मनु के अनुसार समाज में ब्राह्मण का स्थान सर्वोच्च है। मुख्य रूप से उसके छः कर्म थे - वेद पढ़ना, वेद पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना। दान लेने में उसका प्रयास यही होना चाहिए, कि वह दान न ले क्योंकि दान लेने से उसका ब्र°म तेज कम हो जाता है। अन्त:करण की शुद्धि, इन्द्रियों का दमन, पवित्रता, धर्म के लिए कष्ट

सहना, क्षमावान होना, ज्ञान का संचय करना तथा परमतत्व अर्थात सत्य का अनुभव करना ही ब्राह्मणांे ं के परम धर्म हैं।

2. क्षत्रिय

देश और समाज की रक्षा क्षत्रिय ही करते थे। उनका कार्य प्रायः युद्ध-पराक्रम और शौर्य प्रदर्शित करना था, इसलिए ऐसे वीर और पराक्रमी वर्ग को 'क्षत्रिय' कहा गया। क्षत्रियों का मुख्य गुण शौर्य, शासन और सैन्य संचालन था। ब्राह्मणों के समान ही क्षत्रियों को अध्ययन-अध्यापन का अधिकार था, किन्तु यज्ञ कराने का अधिकार नहीं था।

समाज में क्षत्रियों की स्थिति ब्राह्मणों के पश्चात थी किंतु उनका मान और महत्व ब्राह्मणों से कम न था । उन्हें राजन्य' के नाम से या राजपूत शब्द से भी अभिहित किया था। जैन पुराण क्षत्रिय वर्ण के लिए प्रायः 'क्षत्र' और 'क्षत्रिय' शब्द का प्रयोग करते हैं । किंतु पुराणों में कहीं-कहीं 'अयोनिज' का शाब्दिक अर्थ होता है, ऐसी जाति जिसकी उत्पत्ति मानवीय योनि से नहीं हुयी है अर्थात् क्षत्रियों की उत्पत्ति ब्रह्मा से हुयी है इसी से वह 'अयोनिज' कहलाते हैं।' क्षत्रियों का परम्परागत कार्य शासन करना तथा देश की रक्षा के लिए युद्ध करना था । अपने युद्ध कौशल और प्रशासन से वे समाज को रक्षित व पोषित करते थे। ऋग्वेद में उन्हें 'क्षत्र से संबंधित किया गया है जिसका अर्थ 'शौर्य' और 'पराक्रम' से है । प्राचीन काल में वर्ग जन्मना न हो कर कर्मणा ही था, तथापि युद्ध और शौर्य से संबंद्ध वर्ग को 'क्षत्रिय' (राजन्य) वर्ग के रूप में गृहीत किया गया। उत्तर वैदिक युग में क्षत्रीय वर्ग ने देश और समाज में अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने का प्रयास किया और उनके लिए यह कहा गया है कि क्षत्रिय से ऊंचा कोई नहीं । राजसूय यज्ञ में क्षत्रिय ऊंचे सिंहासन पर बैठता था तथा उससे नीचे के आसन पर ब्राह्मण बैठकर क्षत्रीय की उपासना कराता था, तथा क्षत्रीय की योनि ब्रह्म को माना गया । ' प्राचीन युग में ब्राह्मण और क्षत्रिय की की स्पर्धा तीव्रतर हो गयी, और वे ब्राह्मणों के बौद्धिक चुनौती को स्वीकार किये तथा अनेक ऐसे शासक हुए जो अपनी विद्वत्ता, दार्शनिकता और ज्ञान से अनेक ब्राह्मणों को अपना शिष्य बना लिया । जनक, अश्वपति कैकय, काशिराज अजातशत्रु और प्रवाहण जैबलि ऐसे ही क्षत्रिय राजा थे, जिन्होंनें तत्कालीन युग में अपनी अनुपम विद्वत्ता और आध्यात्मिकता से ब्राह्मण वर्ग को चकित ही नहीं किया बल्कि प्रभावित भी किया है। पंचाग्नि विद्या का उद्भव और उन्नयन क्षत्रियों के कारण ही हुआ था जिसका दर्शन - तत्व आवागमन के सिद्धांत का प्रतिपादन करना था । "

क्षत्रियों का जातीय गुण था शौर्य, शासन और सैन्य संचालन, वह अपने राजकीय अधिकारों, प्रशासनिक कार्यों और सामरिक क्रियाओं के कारण वे एक-दूसरे के वर्ग से पूर्णतः भिन्न थे।' वे पूर्णतः शासन, संरक्षण, और पोषण से संबंद्ध थे, तथा उनका प्रमुख कार्य चतुर्वर्णों को संरक्षण प्रदान करना था।

3. वैश्य

वैश्यार्थ जैन पुराणों में वैश्य, सेठ, वणिक, श्रेष्ठी एवं सार्थवाह शब्द प्रयुक्त हुए हैं। पाणिनी ने वैश्य के लिए 'अर्य' शब्द का प्रयोग किया है। समाज में वैश्यों का स्थान क्रमानुसार तीसरा था। व्यापार, खेती, पशुपालन का समस्त उत्तरदायित्व वैश्य के ऊपर ही था। अर्थ संबंधी नीतियों का सारा संचालन वैश्य वर्ग करता था। आलोच्य काल में वैश्य जाति को

साहू अथवा साहूकार के नाम से अभिहित किया जाता था । वैश्य धनोपार्जन के लिए देश से बाहर जाया करते थे। अन्य साक्ष्यों से भी स्पष्ट होता है कि तत्कालीन भारत (विशेषतया गुजरात) के बनियों ने वाणिज्य और व्यापार के विकास में विशेष योगदान दिया था और वे इतने समृद्धवान् थे कि कुछेक तो सामन्त व्यवस्था में सम्मिलित हो गये थे । '
राज्य को अधिकाधिक कर प्रदान करनेवाला वर्ग वैश्य ही था, जो अपनी वस्तुओं के विक्रय की आय में से राजा को कर देता था तथा सर्वाधिक धनाढ्य होने के कारण वही राज्य को सबसे अधिक कर देने वाला था। मनु के अनुसार जिस वस्तु का वह जो मूल्य निश्चित करता था, उसके लाभ में से राजा को कर के रूप में बीसवां भाग मिलता था। पशु और सुवर्ण का कर (मूलधन का) पचासवां भाग एवं धान्य का छठा, आंठवां या बारहवां भाग राजा को प्राप्त होता था । राजपूत राजा जो अधिकतर संघर्ष एवं राजनैतिक कार्यों में व्यस्त रहते थे, व्यापार में कुशल होने के कारण, अनेक वैश्यों को अपने शासन तंत्र में राजकिय कार्यों में सहयोग प्राप्त करने हेतु नियुक्त किये थे।
अर्थ-सम्बन्धी नीतियों का सारा संचालन वैश्य वर्ग करता है। अध्ययन, यजन और दान उसका परम कर्तव्य है।पाणिनि ने वैश्य के लिए 'अर्थ' शब्द का प्रयोग किया है। मनु ने मनुस्मृति में वैश्यों के भी सात धर्मों का उल्लेख किया है-पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन करना, व्यापार करना, ब्याज पर धन देना तथा कृषि करना, वैश्यों के प्रमुख धर्म हैं।

कौटिल्य के अनुसार उसका प्रधान कर्म अध्ययन करना, यज्ञ करना और दान देना है। कालान्तर में वैश्य ने अध्ययन त्यागकर अपने को पूर्णरूप से व्यापार और वाणिज्य में लगाया। गौतम धर्मसूत्र में कहा गया है कि अध्ययन, यजन, दानादि के कर्मों को त्यागकर वैश्य कृषि, वाणिज्य, पशुपालन और कुसीद जैसे धनार्जन के कार्यों में तल्लीन हो गये। महाभारत में भी कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य वैश्यों के स्वाभाविक कर्म माने गये हैं। कौटिल्य ने भी अध्ययन, यजन, दान, कृषि, पशुपालन और वाणिज्य वैश्यों का कर्म बताया है।

महाभारत के अनुसार वैश्यों का प्रमुख ध्येय धनार्जन करना है। मनु के अनुसार पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, वेद पढ़ना, व्यापार करना, ब्याज लेना और कृषि करना वैश्यों के कर्म थे। ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों की तरह वैश्यों को भी आपत्तिकाल में दूसरे वर्ण का कर्म करने की छूट प्राप्त थी।
4. शूद्र
शूद्र चतुर्थ व सबसे अन्तिम वर्ण है और इसका एक मात्र धर्म अपने से उच्च तीनों वर्णों की बिना किसी ईर्ष्या-भाव के सेवा करना है। इनके अतिरिक्त सभी वर्णों के लिए, क्रोध न करना, सत्य बोलना, धन को बाँटकर उसका उपयोग करना, पत्नी से सन्तानोत्पत्ति, पवित्रता को बनाये रखना, क्षमाशील होना, सरल भाव रखना, किसी से द्रोह न करना तथा समस्त जीवों का पालन-पोषण करना आदि समस्त वर्णों के नौ सामान्य धर्म हैं, जिनका पालन करना प्रत्येक वर्ण के लिए अनिवार्य माना गया है।

'परासरा माधव' के उल्लेख से मिलता है कि उनका संपूर्ण जीवन ब्राह्मणों पर आश्रित था तथा ब्राह्मण की सेवा करना उनका अनिवार्य कर्म था । उच्चवर्गों में सपन्न होने वाले धार्मिक अनुष्ठानों में उनकी उपस्थिति केवल सेवा के लिए ही उपयुक्त समझी जाती थी। शूद्रों के जीवन में नियम कानून का कोई अर्थ नहीं था। ब्राह्मणों द्वारा शूद्र को दास के रूप में रखना कोई सामाजिक अपराध नहीं था ।

राकेश मोहन नौटियाल

बौद्ध धर्म: उद्भव, मौलिक सिद्धांत और वैश्विक प्रसार का एक दार्शनिक तथा ऐतिहासिक विश्लेषण

खंड I: बौद्ध धर्म का उद्भव और सामाजिक-ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

1.1 प्रस्तावना: भारतीय चिंतन में छठी शताब्दी ईसा पूर्व का महत्व

छठी शताब्दी ईसा पूर्व को भारतीय इतिहास में एक महत्वपूर्ण 'बौद्धिक क्रांति' का युग माना जाता है। यह वह कालखंड था जब गंगा के मैदानों में द्वितीय नगरीकरण हो रहा था, जिससे समाज में नए राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक संरचनाओं का उदय हुआ। इस परिवर्तनकारी वातावरण में, पारंपरिक वैदिक व्यवस्था के वर्चस्व को चुनौती देते हुए, महात्मा बुद्ध का आविर्भाव हुआ। बुद्ध ने एक ऐसे दर्शन का प्रतिपादन किया जो अनात्मवाद और व्यावहारिक नैतिकता पर केंद्रित था, जिसने भारतीय दर्शन को एक मौलिक नई दिशा दी[1]। इस शोध आलेख का उद्देश्य बौद्ध धर्म के उद्भव के मूल कारणों, उसके केंद्र में स्थित गहन दार्शनिक सिद्धांतों—विशेषकर चार आर्य सत्यों और अष्टांगिक मार्ग—और संस्थागत तथा शाही संरक्षण के माध्यम से हुए उसके अभूतपूर्व वैश्विक विस्तार का गहन विश्लेषण प्रस्तुत करना है।

1.2 वैदिक कर्मकांडों की जटिलता और धार्मिक असंतोष

बौद्ध धर्म के उदय की पृष्ठभूमि में उत्तर वैदिक काल के धार्मिक वातावरण में व्याप्त असंतोष प्रमुख था। इस समय तक वैदिक कर्मकांड अत्यधिक जटिल, महंगे और आडंबरपूर्ण हो चुके थे। यज्ञों और अनुष्ठानों की बढ़ती विकृतता ने जनसामान्य को एक ऐसे धर्म की खोज के लिए प्रेरित किया, जो उन्हें प्रचलित कठोर रीति-रिवाजों, जातिगत रूढ़िवादिता और याज्ञिक कर्मकांडों से मुक्ति दिला सके[1]। ब्राह्मण वर्ग का इन जटिल कर्मकांडों पर एकाधिकार था, जिसने समाज में सामाजिक और धार्मिक असमानता को जन्म दिया[2]।

इसके अतिरिक्त, वैदिक धर्म में पशुबलि का महत्व कृषि-आधारित अर्थव्यवस्था के लिए हानिकारक सिद्ध हो रहा था। पशु, विशेषकर गाय और बैल, कृषि उत्पादन और संपत्ति की आवश्यक निधि थे[1]। पशुबलि से कृषि विकास बाधित हो रहा था, जिससे किसान और नवोदित व्यापारी वर्ग में तीव्र असंतोष पनप रहा था। बौद्ध धर्म (और जैन धर्म) ने अहिंसा के सिद्धांत पर बल देकर न केवल आध्यात्मिक शुद्धि का मार्ग प्रशस्त किया, बल्कि अप्रत्यक्ष रूप से पशुधन की रक्षा करके नई कृषि अर्थव्यवस्था को भी स्थिरता प्रदान की। बुद्ध का धर्म एक सरल और सुलभ मुक्ति मार्ग था, जिसने जटिलता से त्रस्त जनता को आकर्षित किया[1]।

1.3 सामाजिक-आर्थिक कारक: नवोदित धर्मों के उत्प्रेरक

छठी शताब्दी ईसा पूर्व में लोहे के औजारों के प्रचुर प्रयोग ने उत्तर-पूर्वी भारत में एक नई कृषि अर्थव्यवस्था और नगरीकरण को जन्म दिया[1]। कृषि उत्पादन में वृद्धि हुई, और सिक्कों के प्रचलन से व्यापार-वाणिज्य में तेजी आई। इस आर्थिक क्रांति का सबसे बड़ा लाभार्थी वैश्य वर्ग था, जिसने अपनी संपत्ति के बल पर सामाजिक श्रेष्ठता का दावा करना शुरू कर दिया। हालांकि, पारंपरिक ब्राह्मणवादी व्यवस्था में सूदखोरी (उनके व्यवसाय का एक प्रमुख हिस्सा) और समुद्र यात्रा की निंदा की गई थी, जिससे यह नवोदित व्यापारी वर्ग धार्मिक और सामाजिक मान्यता के लिए संघर्ष कर रहा था[1]।

बौद्ध धर्म की लोकप्रियता का एक महत्वपूर्ण कारण उसका यह आर्थिक पहलू था। बुद्ध ने व्यापारियों (जिन्हें 'सेट्ठी' कहा जाता था) के साथ अच्छे संबंध बनाए रखे और उनके हितों के प्रति वैदिक धर्म के विपरीत, घृणा का दृष्टिकोण नहीं अपनाया [1]। इस नवोदित वैश्य वर्ग ने बौद्ध धर्म को सक्रिय रूप से संरक्षण प्रदान किया। यह आर्थिक संरक्षण बौद्ध धर्म के प्रसार के लिए एक मजबूत भौतिक आधार बना। इसके समानांतर, ब्राह्मणों के धार्मिक वर्चस्व के खिलाफ क्षत्रिय वर्ग की प्रतिक्रिया भी एक महत्वपूर्ण कारक थी [2]। गौतम बुद्ध और महावीर दोनों ही क्षत्रिय थे [3]। कुछ विद्वानों का मत है कि इन नए धर्मों ने धार्मिक सर्वोच्चता पर ब्राह्मणों के दावे को चुनौती दी। समतामूलक धर्मों को बढ़ावा देकर क्षत्रिय शासकों ने अपनी राजनीतिक शक्ति को धार्मिक श्रेष्ठता से जोड़ा, जैसा कि मगध के राजाओं ने किया, जिन्होंने इन नए आंदोलनों का समर्थन किया [4]।

1.4 गौतम बुद्ध: जीवन और धर्मचक्र प्रवर्तन

बौद्ध धर्म के संस्थापक सिद्धार्थ गौतम का जन्म 563 ईसा पूर्व में शाक्य गणराज्य के क्षत्रिय कुल में लुंबिनी में हुआ था [5]। जीवन के चार दुखद दृश्यों (बूढ़ा व्यक्ति, रोगी, मृत शरीर, संन्यासी) को देखकर उन्होंने 29 वर्ष की आयु में गृह त्याग कर दिया और संन्यासी बन गए। छह वर्षों की कठिन तपस्या के बाद, 35 वर्ष की आयु में, उन्होंने बोध गया (वर्तमान बिहार) में बोधि वृक्ष के नीचे ध्यान करते हुए ज्ञान प्राप्त किया और 'बुद्ध' (ज्ञान प्राप्त करने वाला) कहलाए [5]।
ज्ञान प्राप्ति के उपरांत, बुद्ध ने सारनाथ में अपना प्रथम उपदेश दिया [5]। इस घटना को **'धर्मचक्र प्रवर्तन सूत्र'** कहा जाता है [7]। इस उपदेश का मूल विषय मानव के दुःख का कारण और उसके निवारण का मार्ग था। उन्होंने सिखाया कि सभी दुःख का मूल कारण लालसा और इच्छाएँ (*तृष्णा*) हैं [7]। बुद्ध ने अपने पूरे जीवनकाल में (45 वर्षों तक) पूर्व में चम्पा से लेकर पश्चिम में कुरुक्षेत्र तक और उत्तर में कपिलवस्तु से दक्षिण में कौशाम्बी तक धर्मोपदेश देते हुए भ्रमण किया [9]।

खंड II: बौद्ध धर्म के मौलिक सिद्धांत (दार्शनिक आधार)

2.1 चतुरार्य सत्य (Four Noble Truths): बौद्ध दर्शन का केंद्र

बौद्ध दर्शन दुःख के चारों ओर केंद्रित है और चार मौलिक सत्यों पर आधारित है, जो दुःख की समस्या और उसके समाधान को क्रमबद्ध तरीके से प्रस्तुत करते हैं:

1. **दुःख सत्य (Dukkha):** संसार दुःखमय है। जन्म, बुढ़ापा (*जरा*), रोग (*व्याधि*), मृत्यु (*मरण*), अप्रिय वस्तुओं से संयोग, और प्रिय वस्तुओं से वियोग, ये सभी दुःख हैं।
2. **दुःख समुदाय सत्य (Samudaya):** दुःख का कारण है। बुद्ध ने इस दुःख का मूल कारण तृष्णा (इच्छा, लालसा या आसक्ति) को बताया [8]। यह तृष्णा ही कर्म के बल पर पुनर्जन्म का कारण बनती है और प्राणी को संसार चक्र में बनाए रखती है [8]।
3. **दुःख निरोध सत्य (Nirodha):** दुःख का निवारण संभव है। तृष्णा का पूर्ण अंत ही दुःख का निरोध है, जिसे **निर्वाण** कहते हैं।
4. **दुःख निरोध गामिनी प्रतिपदा सत्य (Magga):** दुःख निरोध का मार्ग है। तृष्णा से मुक्ति **अष्टांगिक मार्ग** के अनुसार जीने से पाई जा सकती है [11]।

2.2 अष्टांगिक मार्ग (The Eightfold Path): मध्यम मार्ग की व्यवहारिकता

अष्टांगिक मार्ग, जिसे बुद्ध ने **मध्यम मार्ग** भी कहा है, दुःख की समाप्ति (निर्वाण) के लिए आठ सीढ़ियों या सोपानों का समुच्चय है[8]। यह मार्ग भोग-विलास की चरम सीमा और कठोर आत्म-यातना के बीच संतुलन स्थापित करता है। निर्वाण प्राप्ति हेतु, इन आठ अंगों को साधक की आध्यात्मिक शिक्षा के आधार पर **त्रिशिक्षा (Threefold Training)** में समाहित किया गया है, जो शील, समाधि, और प्रज्ञा के रूप में विशुद्धि का मार्ग प्रशस्त करता है[13]।

त्रिशिक्षा का पालन मानव जीवन का एक आदर्श है। शील धर्म की नींव है, समाधि भींत (दीवार) है, और प्रज्ञा छत है, जो साधक को दुखसागर से पार करती है[15]।

त्रिशिक्षा के तहत अष्टांगिक मार्ग का वर्गीकरण

त्रिशिक्षा का अंग	अष्टांगिक मार्ग के सोपान	अर्थ / उद्देश्य
प्रज्ञा (ज्ञान)	1. सम्यक् दृष्टि (Right View)	चार आर्य सत्यों का ज्ञान प्राप्त करना, भले और बुरे कर्मों में भेद समझना, जो अविद्या (अज्ञान) का नाश करता है[12]।
	2. सम्यक् संकल्प (Right Resolve)	निर्वाण को चरम लक्ष्य बनाकर, सांसारिक मोह, घृणा, और किसी का अहित न करने का दृढ़ नैतिक संकल्प लेना[12]।
शील (आचरण)	3. सम्यक् वाक् (Right Speech)	झूठ, चुगली, अप्रिय वचन, और व्यर्थ बकवास से दूर रहना[12]।
	4. सम्यक् कर्मान्त (Right Action)	अहिंसा, अस्तेय (चोरी न करना), और इंद्रियसंयम का पालन करना[12]।
	5. सम्यक् आजीविका (Right Livelihood)	नैतिक और सन्मार्ग पर आधारित जीविकोपार्जन[17]।
समाधि (एकाग्रता)	6. सम्यक् व्यायाम (Right Effort)	मन में उत्पन्न होने वाले बुरे विचारों (राग, द्वेष) को रोकना और शुभ विचारों को विकसित करना[17]।
	7. सम्यक् स्मृति (Right Mindfulness)	तात्त्विक बातों का स्मरण करके मन को सजग और शांत रखना[17]।
	8. सम्यक् समाधि (Right Concentration)	चित्त की एकाग्रता द्वारा ध्यान की अवस्था प्राप्त करना, जिससे निर्वाण की ओर अग्रसर हुआ जा सके[17]।

2.3 कर्म, पुनर्जन्म और अनात्मवाद का सिद्धांत

बौद्ध धर्म में कर्म की अवधारणा केन्द्रीय है, जहाँ कर्म को ही शरीर रूपी गृह का निर्माण करने वाला माना गया है[19]। कर्म के कारण ही व्यक्ति संसार के आवागमन के दुःखदायी चक्र में फँसता रहता है। लोभ, क्रोध, ईर्ष्या, और अभिमान जैसे पापकर्म मृत्यु के बाद दुर्गति में जन्म का कारण बनते हैं, जबकि शुभ कर्म (जैसे अलोभ, अद्वेष) सुगति में जन्म देते हैं[19]। पुनर्जन्म का यह अनंत चक्र तभी टूटता है जब ज्ञान प्राप्त होता है और इच्छाओं का अंत हो जाता है[10]।

हालाँकि, बौद्ध दर्शन की मौलिक विशिष्टता उसका **अनात्मवाद (नैरात्म्यवाद)** का सिद्धांत है[18]। बौद्धों के अनुसार, कोई नित्य या स्थायी आत्मा (*आत्मन*) नहीं है जो पुनर्जन्म लेती है, जैसा कि वैदिक दर्शन में माना जाता है। पुनर्जन्म वास्तव में एक *संतति* (Continuum) या प्रवाह है, जहाँ कर्म के बल पर एक क्षणिक चेतना दूसरे क्षणिक चेतना को जन्म देती है। यदि आत्मा का अस्तित्व नहीं माना जाए, तो मुक्ति कैसे मिलेगी, इस प्रश्न का उत्तर प्रतीत्यसमुत्पाद (कारण और परिणाम का सिद्धांत) से जुड़ा है[20]। **प्रतीत्यसमुत्पाद (Dependent Origination)** का सिद्धांत समझाता है कि सभी घटनाएँ अन्य घटनाओं पर निर्भर करती हैं। दुःख का समूदय अविद्या से उत्पन्न संस्कारों, और संस्कारों से उत्पन्न विज्ञान (चेतना) के कारण होता है[18]। बुद्ध ने जोर दिया कि हमें राग, द्वेष, मोह, और तृष्णा के समूदय को रोकना है। इस प्रकार, बौद्ध धर्म आत्म-ज्ञान पर नहीं, बल्कि *आत्म-भाव* (ego-sense) के विनाश और तृष्णा के पूर्ण निरोध पर केंद्रित होता है।

2.4 निर्वाण का स्वरूप और मोक्ष से तुलना

निर्वाण दुःख और संसार चक्र से मुक्ति की अंतिम अवस्था है[6]। बौद्ध धर्म में निर्वाण को तृतीय आर्य सत्य यानी *दुःख निरोध* कहा गया है[13]।

निर्वाण और हिंदू धर्म के मोक्ष की अवधारणा के बीच एक महत्वपूर्ण भिन्नता है। पारंपरिक रूप से, मोक्ष मृत्यु के पश्चात आत्मा की स्वतंत्रता की बात करता है[21]। इसके विपरीत, बौद्ध धर्म का एक महत्वपूर्ण और व्यावहारिक दृष्टिकोण यह है कि **निर्वाण जीवित अवस्था में ही संभव है**[21]। इसका उद्देश्य यह है कि साधक शरीर में रहते हुए ही दुनियावी लोभ और माया के जंजाल से मुक्त हो जाए। यह व्यावहारिक दृष्टिकोण बुद्ध के धर्म को अत्यंत प्रयोजनवादी (Pragmatic) बनाता है, क्योंकि यह साधक को तत्काल मानसिक शांति और आनंद की ओर ले जाता है, न कि केवल मृत्यु के बाद के फल की प्रतीक्षा करने को कहता है[23]।

2.5 गृहस्थों के लिए पंचशील सिद्धांत

भिक्षुओं के लिए कठोर महाव्रतों के अतिरिक्त, बुद्ध ने गृहस्थ अनुयायियों के लिए नैतिक आचरण के आधार के रूप में **पंचशील सिद्धांत** का प्रतिपादन किया[16]। इन सिद्धांतों का पालन मोक्षमार्ग का पथिक बनने के लिए आवश्यक है:

1. **अहिंसा:** न केवल शारीरिक हिंसा से बचना, बल्कि किसी के लिए भी बुरे का चिंतन या द्वेष न करना[17]।
2. **सत्य:** ऐसा झूठ न बोलना जिससे किसी को कष्ट या अहित पहुंचे[17]।
3. **अस्तेय (अचौर्य):** चोरी न करना; किसी की वस्तु को बिना मांगे या बुरी बुद्धि से हड़पना नहीं[12]।

4. **ब्रह्मचर्य:** गृहस्थों के लिए पांच इंद्रियों पर नियंत्रण रखना और वैवाहिक जीवन में संयम बरतना [17]।
5. **अपरिग्रह:** जितनी शरीर, बच्चों और समाज की आवश्यकता हो, उससे अधिक संग्रह न करना (ममत्व बुद्धि से वस्तुओं का ग्रहण न करना) [17]।

खंड III: बौद्ध धर्म का साहित्य, विभाजन और विस्तार

3.1 बौद्ध साहित्य: त्रिपिटक का संकलन

बौद्ध धर्म के मूल और प्रामाणिक ग्रंथ **त्रिपिटक (Tripitaka)** हैं, जिन्हें पाली भाषा में लिखा गया है और इन्हें थेरवाद बौद्ध धर्म का आधार माना जाता है [25]। इन तीनों पिटकों का संकलन बुद्ध के महापरिनिर्वाण के तुरंत बाद आयोजित प्रथम बौद्ध संगीति के दौरान शुरू हुआ:

1. **विनय पिटक:** यह भिक्षुओं और भिक्षुणियों के लिए मठवासी अनुशासन और नियमों की आचार संहिता है। इसका संकलन प्रथम बौद्ध संगीति के दौरान उपाली द्वारा किया गया था [2]।
2. **सुत्त पिटक:** इसमें गौतम बुद्ध के धार्मिक सिद्धांतों और उपदेशों का संग्रह है। इसका संकलन भी प्रथम बौद्ध संगीति के दौरान आनंद द्वारा किया गया था [2]। इसे पांच निकायों (दीघ निकाय, मज्झिम निकाय, संयुक्त निकाय, अंगुत्तर निकाय, और खुद्दक निकाय) में विभाजित किया गया है [26]।
3. **अभिधम्म पिटक:** यह दार्शनिक विश्लेषण और बौद्ध धर्म के सिद्धांतों की गहन व्याख्या करता है। इसे तृतीय बौद्ध संगीति में मोग्गलिपुत्त तिस्स द्वारा संकलित किया गया था [2]।

3.2 बौद्ध संगीतियां: संस्थागत विकास और संप्रदायों का उदय

बुद्ध की शिक्षाओं के संरक्षण और सैद्धांतिक विवादों को हल करने के लिए समय-समय पर बौद्ध संगीतियों (परिषदों) का आयोजन किया गया [27]। इन संगीतियों ने बौद्ध धर्म के संस्थागत विकास और बाद में संप्रदायों के विभाजन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।
प्रमुख बौद्ध संगीतियों (संरक्षण और परिणाम)

क्रम	समय	स्थान	संरक्षक शासक	अध्यक्ष	महत्वपूर्ण परिणाम
प्रथम	483 ई.पू.	राजगृह (सप्तपर्णी गुफा)	अजातशत्रु	महाकश्यप	बुद्ध के वचनों (सुत्त पिटक) और मठवासी अनुशासन (विनय पिटक) का संकलन [3]।
द्वितीय	383 ई.पू.	वैशाली	कालाशोक	सर्वकामिनी	मठवासी नियमों पर विवाद; **स्थविर (थेरवाद)**

					और महासांघिक में प्रारंभिक विभाजन [27]।
तृतीय	250 ई.पू.	पाटलिपुत्र	सम्राट अशोक	मोग्गलिपुत्त तिस्स	अभिधम्म पिटक का संकलन; बौद्ध समुदाय की स्थापना और धम्म का संगठित प्रसार [27]।
चतुर्थ	1ली शताब्दी ई.	कुंडलवन, कश्मीर	कनिष्क	वसुमित्र (अश्वघोष उपाध्यक्ष)	बौद्ध धर्म का **हीनयान और महायान में स्पष्ट विभाजन**; महाविभाषा शास्त्र का संकलन [25]।

दूसरी और चौथी संगीति में हुए विभाजन यह दर्शाते हैं कि संस्थागत विकास ने शिक्षाओं के संरक्षण के साथ-साथ मतभेदों को भी जन्म दिया। कुछ परंपराओं के अनुसार, मठों में संपत्ति का संचय और महिलाओं को भिक्षुणी संघ में प्रवेश की अनुमति जैसे आंतरिक अनुशासनात्मक परिवर्तन बाद में धर्म के पतन के कारण बने [29]।

3.3 प्रमुख बौद्ध संप्रदाय: हीनयान, महायान, और वज्रयान

चौथी बौद्ध संगीति के बाद, बौद्ध धर्म दो मुख्य संप्रदायों—हीनयान और महायान—में स्पष्ट रूप से विभाजित हो गया, और बाद में एक तीसरी शाखा वज्रयान का विकास हुआ:

1. **हीनयान (थेरवाद):** इस संप्रदाय को "वृद्धों का मार्ग" (Path of the Elders) भी कहा जाता है। हीनयान संप्रदाय महात्मा बुद्ध को एक *महापुरुष* और महान शिक्षक मानते हैं, न कि देवता या अवतार [31]। इनका आदर्श **अर्हत** (Arhat) की स्थिति प्राप्त करना है, जिसमें व्यक्तिगत प्रयास से निर्वाण प्राप्त किया जाता है [33]। ये पाली भाषा में लिखे गए त्रिपिटक को ही प्रमुखता देते हैं [25]। थेरवाद वर्तमान में श्रीलंका, म्यांमार और थाईलैंड में प्रमुख है [33]।
2. **महायान (ग्रेट व्हीकल):** महायानी बुद्ध को ईश्वर के समान मानकर उनकी मूर्ति पूजा करते हैं और उन्हें देवता के रूप में पूजते हैं [31]। इनका केंद्रीय आदर्श **बोधिसत्व** है, जिसका अर्थ है आत्म-मुक्ति को विलंबित करके सभी जीवों को ज्ञान के मार्ग में सहायता करना। यह करुणा (*Karuna*) और प्रज्ञा (*Prajna*) के सिद्धांतों पर जोर देता है [31]। यह संप्रदाय शून्यतावाद (emptiness) और बोधिसत्व पथ जैसे नए शास्त्रों (महायान सूत्र) को स्वीकार करता है [25]। महायान चीन, जापान, कोरिया, और तिब्बत में फैला हुआ है।
3. **वज्रयान:** इसे तांत्रिक बौद्ध धर्म के रूप में भी जाना जाता है, जिसका अर्थ "वज्र का वाहन" है [33]। यह महायान का ही एक रूप है, जो जटिल अनुष्ठानों, मंत्रों और योग साधना पर केंद्रित है, जिसका उद्देश्य तीव्र गति से बुद्धत्व प्राप्त करना है। वज्रयान मुख्य रूप से तिब्बत और हिमालयी क्षेत्रों में विकसित हुआ [34]।

3.4 वैश्विक विस्तार और शाही संरक्षण की भूमिका

बौद्ध धर्म का वैश्विक प्रसार मुख्य रूप से शाही संरक्षण की शक्ति पर निर्भर था। मौर्य सम्राट **अशोक** का योगदान किसी भी अन्य कारक से अधिक निर्णायक था, जिसने बौद्ध धर्म को भारत के एक क्षेत्रीय मत से एक विश्व धर्म में परिवर्तित कर दिया[24]। कलिंग युद्ध के बाद, अशोक ने अहिंसा और सत्य का मार्ग अपनाया और धम्म (नैतिक सिद्धांत) का प्रचार अपने शिलालेखों के माध्यम से करवाया[35]।

अशोक ने अपने पुत्र महेंद्र और पुत्री संघमित्रा सहित धर्म प्रचारकों को नेपाल, श्रीलंका, अफगानिस्तान, सीरिया, मिस्र और यूनान जैसे दूरस्थ क्षेत्रों में भेजा[35]। उन्होंने बौद्ध बोधिसत्वों की मूर्तियाँ स्थापित करने के लिए उद्यानों, गुंबदों और स्तूपों का निर्माण करवाया (माना जाता है कि उन्होंने 84,000 स्तूपों का निर्माण कराया था)[36]। अशोक का यह सक्रिय राजनीतिक और आर्थिक समर्थन ही वह आधार था जिसके कारण बौद्ध धर्म, जैन धर्म के विपरीत, भारत की सीमाओं से परे एक विश्वव्यापी आंदोलन बन सका[37]।

इसके बाद, भारतीय आचार्य शान्तरक्षित के नेतृत्व में तिब्बत में बौद्ध धर्म का सशक्त प्रवेश हुआ, जहाँ भारतीय बौद्ध ग्रंथों का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया गया[34]।

3.5 सांस्कृतिक सम्मिश्रण और वास्तुकला

बौद्ध धर्म के व्यापक प्रसार और दीर्घकालिक सफलता का एक अन्य कारण इसकी अद्भुत अनुकूलनशीलता थी। दक्षिण-पूर्व एशिया में बौद्ध धर्म स्थानीय मान्यताओं और हिंदू धर्म के साथ मिश्रित हो गया[33]। यह समन्वयता धर्म को विभिन्न संस्कृतियों में गहराई से समाहित होने की अनुमति देती थी[38]।

इस सांस्कृतिक सम्मिश्रण के महत्वपूर्ण उदाहरण इंडोनेशिया का **बोरोबुदुर स्तूप** और कंबोडिया का अंकोरवाट हैं[33]। बोरोबुदुर, शैलेन्द्र राजाओं द्वारा निर्मित विश्व का विशालतम बौद्ध मंदिर है। इसकी वास्तुकला पर भारतीय प्रभाव स्पष्ट है। यह स्तूप 9 खंडों में विभाजित है और इसके शिलापट्टों पर बुद्ध के जीवन की अनेक घटनाएँ उत्कीर्ण हैं[39]।

खंड IV: कला, स्थापत्य और निष्कर्ष

4.1 बौद्ध कला और स्थापत्य का योगदान

बौद्ध धर्म ने भारतीय स्थापत्य कला को तीन प्रमुख संरचनाओं—स्तूप, चैत्य और विहार—के रूप में एक अमूल्य विरासत प्रदान की[41]।

1. **स्तूप (Stupa):** स्तूप बौद्ध धर्म में सबसे महत्वपूर्ण संरचना हैं। ये बुद्ध या प्रमुख भिक्षुओं के पवित्र शारीरिक अवशेषों को सुरक्षित रखने के लिए निर्मित अर्ध-वृत्ताकार टीले जैसी संरचनाएं हैं[41]। स्तूप बुद्ध की समाधि और परिनिर्वाण का प्रतीक माना जाता है। सम्राट अशोक साँची में स्तूप के सर्जक थे, जो तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व में निर्मित हुआ था[43]। साँची का स्तूप अपनी वास्तुशिल्प प्रतिष्ठा और प्रवेश द्वारों पर खुदी हुई कला (भित्ति चित्र) के कारण विश्व प्रसिद्ध है और इसे 1989 में यूनेस्को विश्व धरोहर स्थल घोषित किया गया[42]।
2. **चैत्य (Chaitya):** ये बौद्ध भिक्षुओं के पूजा स्थल या प्रार्थना हॉल होते थे। चैत्य आम तौर पर गुफाओं को काटकर (रॉक कट) बनाए जाते थे, और इनके भीतर एक छोटा स्तूप भी स्थित हो सकता था, जिसका उपयोग पूजा के लिए होता था[41]।

3. **विहार (Vihara):** ये बौद्ध भिक्षुओं और भिक्षुणियों के निवास स्थान या मठ होते थे [41]। नालंदा जैसे बड़े शैक्षिक संस्थान भी विशाल विहारों के रूप में विकसित हुए [33]।

बौद्ध कला ने मूर्तियों और शिलापट्टों पर बुद्ध के जीवन और जातक कथाओं को उत्कीर्ण करके धर्म के सिद्धांतों को निरक्षर जनता तक पहुँचाने का शक्तिशाली माध्यम प्रदान किया। अजंता की गुफाओं में भित्ति चित्रण और मूर्तिकला इस कलात्मक योगदान के उत्कृष्ट उदाहरण हैं [46]।

4.2 निष्कर्ष: बौद्ध धर्म की स्थायी विरासत

बौद्ध धर्म का उद्भव छठी शताब्दी ईसा पूर्व की सामाजिक-आर्थिक उथल-पुथल का परिणाम था, जहाँ लोहे के प्रसार और व्यापारिक वर्ग के उदय ने वैदिक कर्मकांडों की जटिलता को चुनौती दी। बुद्ध ने कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धांत को अपनाया, लेकिन अनात्मवाद के मौलिक सिद्धांत और निर्वाण की व्यावहारिक अवधारणा (जो जीवित अवस्था में मुक्ति पर केंद्रित है) के माध्यम से इसे पारंपरिक भारतीय दर्शन से अलग किया।

बौद्ध धर्म की सफलता उसकी समतामूलक अपील, मध्यम मार्ग की व्यावहारिक नैतिकता और सम्राट अशोक जैसे शक्तिशाली संरक्षकों के राजनीतिक समर्थन में निहित थी। अशोक के प्रयासों ने धर्म को एशिया के बड़े हिस्से में विस्तारित किया, जहाँ इसकी अनुकूलनशीलता ने स्थानीय संस्कृतियों के साथ सम्मिश्रण (जैसे बोरोबुदुर में) की अनुमति दी।

आज भी, बौद्ध धर्म की शिक्षाएँ अत्यंत प्रासंगिक हैं। अहिंसा, करुणा, और मानसिक अनुशासन (ध्यान) पर आधारित त्रिशिक्षा आधुनिक विश्व की जटिल समस्याओं, पर्यावरणीय चिंताओं और सामाजिक न्याय की आवश्यकताओं से निपटने में एक गहरा और शांतिपूर्ण दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है। यह संघर्षरत विश्व में सहिष्णुता, शांति और आत्म-शुद्धि की आवश्यकता को रेखांकित करता है [48]।

<u>भगवान महावीर का जीवन और जैन धर्म के पाँच महाव्रत: एक प्राथमिक शिक्षण निर्देशिका</u>

1. प्रस्तावना: जैन धर्म का सार और त्रिरत्न (Introduction: Essence of Jainism and the Three Jewels)

जैन दर्शन एक प्राचीन, व्यावहारिक और आत्म-विकास पर आधारित आध्यात्मिक परंपरा है। इसका मुख्य उद्देश्य आत्मा को सांसारिक दुखों, कर्मों के बंधन और पुनर्जन्म के चक्र से मुक्त करके 'मोक्ष' या 'निर्वाण' प्राप्त कराना है।

जैन परंपरा में **'तीर्थंकर' (Tirthankara)** उन सिद्ध आत्माओं को कहा जाता है, जो मानव के रूप में जन्म लेकर साधना द्वारा सभी सांसारिक राग-द्वेष और कषायों पर विजय प्राप्त करते हैं तथा संसार-समुद्र को पार करने के लिए धर्म-तीर्थ (मार्ग) की रचना करते हैं। वहीं, **'जिन' (Jina)** का अर्थ है 'विजेता'—अर्थात वह महान साधक जिसने अपने आंतरिक शत्रुओं जैसे राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया और लोभ पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली हो।

आध्यात्मिक प्रगति और मोक्ष प्राप्ति की नींव **'त्रिरत्न' (Ratnatraya / Rathnaththray)** पर आधारित है। ये तीन रत्न आत्मा के वास्तविक स्वरूप को प्रकट करने और कर्म-बंधन से मुक्ति पाने के लिए अनिवार्य हैं:

त्रिरत्न का नाम	अर्थ एवं व्यावहारिक महत्व
सम्यक् दर्शन (Samyak Darshana - सम्यक् श्रद्धा)	सत्य और असत्य, सही और गलत के बीच सही भेद करने की क्षमता। यह सही दृष्टिकोण, सही समझ और अगाध श्रद्धा से प्राप्त होता है, जो मन में संतोष, वैराग्य और करुणा का भाव जगाता है।
सम्यक् ज्ञान (Samyak Gyana)	संशय-रहित और वास्तविक सत्य का ज्ञान। यह आत्मा को यह समझने में मदद करता है कि उसके लिए क्या कल्याणकारी है और किन पापपूर्ण कार्यों से बचना चाहिए। इसका सर्वोच्च रूप 'केवल ज्ञान' (पूर्ण ज्ञान) है।
सम्यक् चरित्र (Samyak Charitra)	मन, वचन और काया (शरीर) से किसी भी जीव को हानि न पहुँचाना। सम्यक् दर्शन और ज्ञान से प्रेरित होकर पवित्र आचरण करना ही सम्यक् चरित्र है, जो नए कर्मों के आस्रव (आगमन) को रोकता है।

ये तीनों रत्न आपस में पूरी तरह जुड़े हुए हैं और एक साथ कार्य करते हैं। सम्यक् दर्शन के बिना सम्यक् ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता, और सम्यक् ज्ञान के बिना सम्यक् चरित्र का पालन असंभव है।

आन्तरिक मुक्ति के इस त्रिरत्न मार्ग को भगवान महावीर ने अपने जीवन के प्रत्यक्ष आचरण से सिद्ध किया और संपूर्ण मानवता के लिए एक जीवंत मार्गदर्शक प्रस्तुत किया।

2. भगवान महावीर: जीवन वृत्त और आध्यात्मिक यात्रा (Bhagwan Mahaveer: Life Story and Spiritual Journey)

जैन धर्म के 24वें तीर्थंकर भगवान महावीर का जीवन त्याग, कठोर तपस्या और असीम करुणा का अनुपम उदाहरण है। वे केवल एक ऐतिहासिक महापुरुष नहीं थे, बल्कि उन्होंने आध्यात्मिक साधना के शिखर को छूकर यह दिखाया कि प्रत्येक जीव के भीतर परमात्मा बनने की क्षमता निहित है।

- **जन्म एवं नाम (Birth & Name):** भगवान महावीर का जन्म 599 ईसा पूर्व (B.C.) में बिहार के वैशाली साम्राज्य के अंतर्गत 'कुंडलग्राम' में हुआ था। उनके बचपन का नाम 'वर्धमान' था। उनके पिता राजा सिद्धार्थ और माता रानी त्रिशला थीं। अत्यंत वीर और निडर होने के कारण उन्हें 'महावीर' की उपाधि दी गई।

- **गृहत्याग एवं तपस्या (Renunciation & Penance):** राजसी सुख-सुविधाओं और वैभव के बीच पले-बढे होने के बावजूद वर्धमान का मन सांसारिक भोगों में नहीं रमा। 30 वर्ष की आयु में उन्होंने गृहत्याग किया और "नमो सिद्धाणं" (सिद्ध आत्माओं को नमस्कार - जो नवकार मंत्र की एक पवित्र पंक्ति है) का उच्चारण करते हुए मुनि दीक्षा ग्रहण की। यह उच्चारण उनके संसार से पूर्ण त्याग और सिद्ध आत्माओं के प्रति संपूर्ण आत्म-समर्पण का प्रतीक था। इसके बाद उन्होंने 12 वर्षों तक कठोर मौन, ध्यान, संयम और अहिंसक तपस्या का पालन किया।

- **कैवल्य ज्ञान (Omniscience):** 12 वर्षों की घोर साधना के पश्चात, 42 वर्ष की आयु में, ऋजुवालुका नदी के तट पर एक शाल वृक्ष के नीचे ध्यानमग्न अवस्था में उन्हें 'केवल ज्ञान' (सर्वज्ञता/पूर्ण ज्ञान) की प्राप्ति हुई और वे 'जिन' कहलाए।

- **चतुर्विध संघ की स्थापना (Fourfold Federation):** ज्ञान प्राप्ति के उपरांत उन्होंने 'सर्वोदय' तीर्थ का प्रवर्तन किया और अपने विचारों को जन-सामान्य तक पहुँचाने के लिए उपदेश दिए। उनके 11 मुख्य विद्वान शिष्य 'गणधर' कहलाए। उन्होंने **साधु** (पुरुष मुनि), **साध्वी** (महिला मुनि), **श्रावक** (पुरुष गृहस्थ), और **श्राविका** (महिला गृहस्थ) को मिलाकर 'चतुर्विध संघ' की स्थापना की।

- **निर्वाण (Nirvana):** 30 वर्षों तक सत्य और अहिंसा का संदेश देने के बाद, 527 ईसा पूर्व में 72 वर्ष की आयु में, बिहार के 'पावापुरी' स्थान पर 48 घंटे के अंतिम उपदेश (देशना) के पश्चात उन्होंने निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त किया।

भगवान महावीर ने अपने इस अलौकिक अनुभव और आध्यात्मिक उपलब्धि को मानवता के लिए व्यावहारिक आचरण नियमों में ढाला, जिन्हें 'पाँच मूलभूत व्रत' कहा जाता है।

3. पाँच मूलभूत व्रत: महाव्रत और अणुव्रत (The Five Fundamental Vows: Mahavratas vs. Anuvratas)

जैन आचार-संहिता में पाँच मूलभूत व्रतों का पालन अनिवार्य माना गया है। साधकों की जीवनशैली और क्षमता के आधार पर इन व्रतों को दो श्रेणियों में विभाजित किया गया है: **महाव्रत** (जो साधु-साध्वियों द्वारा बिना किसी छूट के पूर्णतः निभाए जाते हैं) और **अणुव्रत** (जो गृहस्थों द्वारा अपनी व्यावहारिक सीमाओं के भीतर आंशिक रूप से अपनाए जाते हैं)।

जैन कर्म-सिद्धांत के अनुसार, मन, वचन और शरीर की चंचलता (योग) तथा कषायों (क्रोध, मान, माया, लोभ) के कारण कर्म-पुद्गल आत्मा की ओर आकर्षित होते हैं, जिसे **'आस्रव' (Ashrava - कर्मों का आगमन)** कहते हैं। ये व्रत, समितियाँ और गुप्तियाँ आत्मा के चारों ओर एक सुरक्षा कवच का कार्य करती हैं, जो नए कर्मों के इस आस्रव को रोक देती हैं।

व्रत (Vow)	साधु/साध्वी (महाव्रत - कठोर एवं पूर्ण)	गृहस्थ (अणुव्रत - सीमित एवं लचीला)
अहिंसा (Ahimsa)	सूक्ष्मतम हिंसा का भी त्याग। मन, वचन, काय से किसी जीव को न मारना, न मरवाना, न अनुमोदन करना।	'परिमित अहिंसा'। संकल्पपूर्वक की जाने वाली हिंसा का त्याग; जीवन या आजीविका हेतु न्यूनतम अपरिहार्य हिंसा की छूट।
सत्य (Satya)	पूर्ण सत्य का पालन। किसी भी स्थिति में असत्य का पूर्ण त्याग और केवल निर्दोष, हितकारी वाणी बोलना।	जीवन में झूठ न बोलना, व्यापार या संबंधों में धोखा न देना। यदि सत्य से किसी का घात होता हो तो मौन रहना।
अचौर्य/अस्तेय (Achaurya/Asteya)	बिना दी गई किसी भी वस्तु (चाहे वह एक तिनका ही क्यों न हो) को कभी ग्रहण न करना।	दूसरों की संपत्ति की चोरी न करना, अनुचित साधनों से धन न कमाना और लावारिस वस्तु को न उठाना।
ब्रह्मचर्य (Brahmacharya)	पूर्ण काम-वासना और शारीरिक/मानसिक विषयों का त्याग; अपने आत्म-स्वरूप में लीन रहना।	स्व-पत्नी/स्व-पति तक ही शारीरिक संबंध को सीमित रखना; पर-स्त्री/पर-पुरुष गमन का पूर्ण त्याग।
अपरिग्रह (Aparigraha)	भौतिक धन, वस्त्र या संबंधों का पूर्ण त्याग। किसी वस्तु का संग्रह या स्वामित्व न रखना।	'परिमित परिग्रह' (Parimithaparigraha)। अपनी आवश्यकतानुसार धन, भूमि, मकान आदि की सीमा तय करना।

पाँचों व्रतों का विस्तृत विवरण:

1. अहिंसा (Ahimsa - Non-violence)

जैन धर्म का केंद्रीय सिद्धांत है—"अहिंसा परमो धर्मः" (अहिंसा ही परम धर्म है)। अहिंसा का अर्थ केवल किसी की हत्या न करना ही नहीं, बल्कि मन, वचन और कर्म से किसी भी जीव को दुख न पहुँचाना है।

जैन धर्म में जीवों को उनकी इंद्रियों की संख्या के आधार पर वर्गीकृत किया गया है:

इंद्रिय संख्या	सक्रिय इंद्रियाँ	उदाहरण
एक-इंद्रिय	स्पर्श	पृथ्वी-कायिक, जल-कायिक, अग्नि-कायिक, वायु-कायिक और वनस्पति-कायिक (पौधे)
दो-इंद्रिय	स्पर्श, स्वाद	कीड़े (Worms), जोंक (Leeches)
तीन-इंद्रिय	स्पर्श, स्वाद, गंध	चींटियाँ (Ants), जूँ (Lice)
चार-इंद्रिय	स्पर्श, स्वाद, गंध, दृष्टि	मक्खियाँ, मधुमक्खियाँ, मच्छर
पंच-इंद्रिय	स्पर्श, स्वाद, गंध, दृष्टि, श्रवण	मनुष्य, पशु, पक्षी, जलचर, देव और नारकी जीव

अहिंसा की रक्षा करने तथा कर्मों के आस्रव को रोकने के लिए **5 समितियाँ (सावधानियाँ)** और **3 गुप्तियाँ (नियंत्रण)** बताई गई हैं:

- **5 समितियाँ (Carefulnesses):**
    1. भाषा समिति: कड़वे, हिंसक या तेज आवाज वाले शब्द न बोलना और वाणी में सावधानी रखना।
    2. ईर्या समिति: चलते समय रास्ते के सूक्ष्म जीवों को देखकर ध्यानपूर्वक चलना।
    3. एषणा समिति: शुद्ध, निर्दोष और हिंसा-रहित आहार ग्रहण करना।
    4. आदान-निक्षेपणा समिति: वस्तुओं को उठाने और रखने में सूक्ष्म जीवों की रक्षा का ध्यान रखना।
    5. उत्सर्ग/प्रतिष्ठापना समिति: मल-मूत्र आदि का त्याग जीव-रहित स्वच्छ स्थान पर करना।
- **3 गुप्तियाँ (Controls):**
    1. मन गुप्ति: मन में किसी का अहित न सोचना और अशुभ विचारों पर नियंत्रण रखना।
    2. वचन गुप्ति: वाणी पर पूर्ण संयम रखना और अवांछित बातें न करना।
    3. काय गुप्ति: शरीर की क्रियाओं को संयमित रखना और हिंसक चेष्टाओं से बचना।

इन समितियों और गुप्तियों का पालन करने से प्रमाद और कषाय शांत होते हैं, जिससे आत्मा में नवीन कर्म-पुद्गलों का प्रवेश (आस्रव) रुक जाता है।

2. सत्य (Satya - Truthfulness)

सत्य हमेशा हितकारी, प्रिय और अहिंसक होना चाहिए। यदि सच बोलने से किसी बेकसूर का जीवन खतरे में पड़ता हो या किसी को भारी पीड़ा पहुँचती हो, तो वहाँ मौन रहना ही धर्म है। असत्य के मुख्य कारण क्रोध, लोभ, भय और हास्य-दिल्लगी (प्रमाद) हैं।

3. अचौर्य/अस्तेय (Achaurya/Asteya - Non-stealing)

बिना अनुमति के किसी की वस्तु ग्रहण न करना अचौर्य है। लावारिस पड़ी वस्तु को उठाना या आवश्यकता से अधिक भिक्षा/सहायता लेना भी जैन दर्शन में चोरी के समान माना गया है।

4. ब्रह्मचर्य (Brahmacharya - Celibacy/Chastity)

इंद्रिय सुखों और वासनाओं पर नियंत्रण पाना। मुनियों के लिए इसका पूर्ण पालन अनिवार्य है (आत्मा में रमण करना), जबकि गृहस्थों के लिए अपनी जीवनसंगिनी/पति के प्रति वफादार रहना ही इसका आचरण है।

5. अपरिग्रह (Aparigraha - Non-possession)

सांसारिक वस्तुओं, धन-संपत्ति और संबंधों में अत्यधिक आसक्ति ही पाप, लोभ, ईर्ष्या और हिंसा की जड़ है। गृहस्थों को सलाह दी जाती है कि वे अपने परिग्रह (संग्रह) की एक सीमा निर्धारित करें (Parimithaparigraha) और अतिरिक्त धन का उपयोग परोपकार में करें।

व्रतों का यह व्यावहारिक और अनुशासित आचरण केवल व्यक्तिगत आध्यात्मिक शुद्धि का साधन नहीं है, बल्कि यह आज के आधुनिक वैश्विक संकटों का भी अचूक समाधान प्रस्तुत करता है।

4. आधुनिक वैश्विक समस्याओं का समाधान: तीन 'A' (Modern Relevance: The Three 'A's)

भगवान महावीर के उपदेश केवल प्राचीन काल तक सीमित नहीं हैं; आज का आधुनिक समाज जिन भयावह समस्याओं का सामना कर रहा है, उनका समाधान जैन धर्म के तीन 'A' सिद्धांतों—**अहिंसा (Ahimsa)**, **अनेकांतवाद (Anekantavada)**, और **अपरिग्रह (Aparigraha)** में समाहित है:

- **पर्यावरण संरक्षण (Environmental Protection):**
    - समस्या: प्रदूषण, जलवायु परिवर्तन (Climate Change) और प्राकृतिक पारिस्थितिकी का विनाश।
    - समाधान (अहिंसा): भगवान महावीर ने स्पष्ट रूप से बताया कि केवल मनुष्य और पशु ही नहीं, बल्कि **पृथ्वी-कायिक (मिट्टी), जल-कायिक (पानी), अग्नि-कायिक (अग्नि), वायु-कायिक (हवा), और वनस्पति-कायिक (पेड़-पौधे)** भी एक-इंद्रिय सचेतन जीव हैं। प्राकृतिक संसाधनों का अंधाधुंध दोहन और प्रदूषण वास्तव में इन सूक्ष्म जीवों की हिंसा है।

अहिंसा का सिद्धांत हमें पर्यावरण के प्रति संवेदनशील बनाता है और पारिस्थितिक संतुलन (Ecological balance) बनाए रखने की प्रेरणा देता है।

- **वैचारिक हिंसा एवं कट्टरता (Ideological Conflicts & Fanaticism):**
    - समस्या: धार्मिक कट्टरवाद, युद्ध, आतंकवाद और विचारों का टकराव।
    - समाधान (अनेकांतवाद / स्याद्वाद): अनेकांतवाद का सिद्धांत सिखाता है कि 'सत्य' अनंत पहलुओं वाला होता है (utpada-vyaya-dhrauvya-yuktam sat)। कोई भी एक व्यक्ति पूर्ण सत्य का अकेले दावा नहीं कर सकता। 'स्याद्वाद' के माध्यम से दूसरों के दृष्टिकोण को समझना और सम्मान देना ही बौद्धिक अहिंसा है, जो दुनिया से वैचारिक संघर्ष समाप्त कर सकती है।
- **गरीबी एवं आर्थिक असमानता (Poverty & Economic Inequality):**
    - समस्या: अत्यधिक उपभोक्तावाद, अमीरी-गरीबी की बढ़ती खाई और शोषण।
    - समाधान (अपरिग्रह): अपरिग्रह का नियम सिखाता है कि अपनी लालसाओं और आवश्यकताओं को सीमित करें। जैन दर्शन का मूल मंत्र है—"प्रकृति मनुष्य की आवश्यकता की पूर्ति कर सकती है, उसके लोभ (लालच) की नहीं।" यदि लोग अपनी संपत्ति का स्वेच्छा से परिमीतन (सीमा निर्धारण) करें, तो समाज से गरीबी और भुखमरी स्वतः मिट जाएगी।

इन तीन सिद्धांतों का व्यावहारिक जीवन में पालन करने से न केवल वैश्विक स्तर पर शांति और सौहार्द स्थापित होता है, बल्कि व्यक्ति को आंतरिक मानसिक तृप्ति और तनाव-मुक्त जीवन प्राप्त होता है।

5. निष्कर्ष और मुख्य बिंदु (Conclusion & Core Takeaways for the Aspiring Learner)

भगवान महावीर का संपूर्ण जीवन और दर्शन का निचोड़ उनके कालजयी संदेश **"जीओ और जीने दो" (Live and Let Live)** में निहित है। उनका मार्ग किसी बाहरी ईश्वर पर निर्भर रहने का नहीं, बल्कि स्वयं के आचरण द्वारा आत्मा के भीतर छिपी परमात्मा-शक्ति को प्रकट करने का मार्ग है।

एक नए शिक्षार्थी के लिए इस निर्देशिका के मुख्य निष्कर्ष निम्नलिखित हैं:

1. **सर्वजीव समता एवं अहिंसा:** दुनिया के सभी जीव (चाहे वे एक-इंद्रिय सूक्ष्म जीव हों या पंच-इंद्रिय) जीना चाहते हैं, कोई मरना नहीं चाहता। सभी आत्माएं मूलतः समान हैं, इसलिए हर जीव के प्रति दया, प्रेम और समता का भाव रखें।
2. **व्यक्तिगत उत्तरदायित्व और कर्म सिद्धांत:** जैन कर्म सिद्धांत का सार है—"जैसा बोओगे, वैसा काटोगे" (As you sow, so shall you reap)। हमारे अपने विचार, शब्द और कर्म ही आत्मा पर कर्म-

पुद्गलों का आस्त्रव और बंधन (Bandh) करते हैं। व्रत, समिति और गुप्ति के पालन द्वारा इस कर्म-आस्त्रव को रोककर ही आत्मा को मुक्त किया जा सकता है।

3. **बौद्धिक विनम्रता एवं अनेकांतवाद:** किसी भी मुद्दे पर एकांगी या कट्टर दृष्टिकोण न रखें। दूसरों के विचारों और मान्यताओं को सम्मानपूर्वक सुनने और समझने का प्रयास करें ताकि वैचारिक शांति बनी रहे।

4. **इच्छाओं का परिसीमन एवं अपरिग्रह:** भौतिक वस्तुओं के पीछे अंधी दौड़ लगाने के बजाय आत्म-संतोष को चुनें। अपनी आवश्यकताओं को सीमित (Parimithaparigraha) करके समाज के कल्याण और भलाई में योगदान दें।

भगवान महावीर की यह वैज्ञानिक और सार्वभौमिक शिक्षाएँ किसी जाति, देश या काल से बँधी हुई नहीं हैं; यह एक ऐसा मार्ग है जिस पर चलकर कोई भी व्यक्ति शांति, करुणा और आत्मानंद को प्राप्त कर सकता है।

राकेश मोहन नौटियाल

मौर्य साम्राज्य: राजनीतिक संगठन, आर्थिक नियंत्रण और अशोक के धम्म का व्यापक विश्लेषण

I. परिचय: मौर्य साम्राज्य का अभ्युदय और ऐतिहासिक स्रोत

I.A. पृष्ठभूमि और स्थापना

मौर्य साम्राज्य (ईसा पूर्व 322 – 185) प्राचीन भारतीय इतिहास में एक निर्णायक मोड़ का प्रतीक है। यह साम्राज्य उस राजनीतिक और सामाजिक-आर्थिक उथल-पुथल की प्रतिक्रिया स्वरूप उभरा जो छठी शताब्दी ईसा पूर्व से विकसित हो रही थी। चंद्रगुप्त मौर्य ने 322 ईसा पूर्व में अपने कुशल रणनीतिकार चाणक्य (कौटिल्य) के मार्गदर्शन में, मगध के अंतिम नंद शासक धनानंद को पराजित करके पाटलिपुत्र में मौर्य वंश की नींव रखी [1]। चंद्रगुप्त मौर्य ने उस राजनीतिक शून्य का लाभ उठाया जो सिकंदर के आक्रमण के बाद उत्तर-पश्चिमी भारत में उत्पन्न हो गया था, जिससे उन्होंने 316 ईसा पूर्व तक पूरे उत्तरी-पश्चिमी भारत पर अधिकार कर लिया [1]।

मौर्यों ने भारत को पहली बार एक एकीकृत और विशाल साम्राज्य प्रदान किया, जिसका विस्तार उत्तर-पश्चिमी सीमाओं से लेकर दक्कन के कुछ हिस्सों तक था। सम्राट अशोक (ईसा पूर्व 269-232) के शासनकाल में यह साम्राज्य अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंचा, जिसने न केवल अपने साम्राज्य का विस्तार किया, बल्कि एक महान शासक, न्यायप्रिय सम्राट और दयालु राजा के रूप में भी अपनी पहचान बनाई।

I.B. अध्ययन के मुख्य स्रोत और उनकी सीमाएँ

मौर्य साम्राज्य के राजनीतिक संगठन, अर्थव्यवस्था और सामाजिक संरचना को समझने के लिए तीन प्राथमिक स्रोत अपरिहार्य हैं, जो बहुमूल्य ऐतिहासिक अंतर्दृष्टि प्रदान करते हैं [3]:

1. **कौटिल्य का *अर्थशास्त्र*:** यह ग्रंथ शासन, प्रशासन, और अर्थव्यवस्था के सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक पहलुओं का एक विस्तृत ब्लूप्रिंट प्रदान करता है। यह मौर्य प्रशासन की केंद्रीकृत और विस्तृत संरचना को समझने का सबसे महत्वपूर्ण भारतीय स्रोत है, जिसे विष्णुगुप्त या चाणक्य ने लिखा था [1]।
2. **मेगस्थनीज की *इंडिका*:** सेल्यूकस निकेटर के राजदूत मेगस्थनीज द्वारा लिखित यह कृति, चंद्रगुप्त मौर्य के शासनकाल के दौरान ग्रीक में लिखी गई थी [4]। यद्यपि मूल पाठ अनुपलब्ध है, एरियन, स्ट्रैबो और डायोडोरस सिकुलस जैसे बाद के यूनानी लेखकों के माध्यम से इसके टुकड़े प्राप्त हुए हैं [4]। यह विदेशी दृष्टिकोण से मौर्य समाज, नगरीय प्रशासन (पाटलिपुत्र), और जाति व्यवस्था के सात वर्गों का वर्णन करती है [4]।
3. **अशोक के शिलालेख और स्तंभ लेख:** ये सबसे विश्वसनीय समकालीन स्रोत हैं, जो सीधे सम्राट के आदेशों और नीतियों को दर्शाते हैं [3]। ये लेख अशोक के धम्म की प्रकृति, उसके प्रशासनिक आदेशों, और सार्वजनिक कल्याण कार्यों पर प्रकाश डालते हैं। धम्म के सिद्धांतों को जनता की स्थानीय भाषा प्राकृत में उत्कीर्ण किया गया था ताकि वे आसानी से समझ सकें [8]।

II. राज्य की प्रकृति और राजनीतिक सिद्धांत

II.A. कौटिल्य का सप्तांग सिद्धांत (State Organs)

कौटिल्य ने अपने *अर्थशास्त्र* में राज्य की सैद्धांतिक नींव को सप्तांग सिद्धांत के माध्यम से स्थापित किया। यह सिद्धांत राज्य को एक अमूर्त विचार के बजाय सात परस्पर निर्भर और मूर्त अंगों (*प्रकृति*) से मिलकर बना मानता है, जो आधुनिक राज्य की धारणाओं के साथ भी संगत प्रतीत होता है [9]।

राज्य के सात आवश्यक अंग निम्नलिखित हैं [11]:

1. **स्वामी (राजा):** कौटिल्य द्वारा स्वामी को राज्य का शीर्ष और सर्वोच्च अधिकारी माना गया है। उन्हें अत्यंत शक्तिशाली और महत्वपूर्ण बताते हुए, कौटिल्य ने राजा के लिए महाकुलीनता, दैवबुद्धि, दूरदर्शिता, धार्मिकता, सत्यवादिता और उच्च उत्साह जैसे गुणों का होना आवश्यक माना है [10]।
2. **अमात्य (मंत्री/सचिव):** ये स्वामी के साथ मिलकर केंद्रीय सरकार का गठन करते थे और प्रशासन के कार्यकारी अंग के रूप में कार्य करते थे [11]।
3. **जनपद (भू-क्षेत्र और प्रजा):** राष्ट्र और भू-क्षेत्र, जो राज्य के संसाधनों और मानव शक्ति का आधार थे [11]।
4. **दुर्ग (किले):** यह सुरक्षित राजधानी और रक्षात्मक संरचनाओं का प्रतीक था [11]।
5. **कोष (खजाना):** कौटिल्य ने वित्त की महत्ता को रेखांकित करते हुए कहा कि "कोष ही राजाओं की सेना है" [11]। यह कथन इस बात को स्थापित करता है कि आर्थिक शक्ति सीधे सैन्य और प्रशासनिक स्थिरता से जुड़ी हुई थी।
6. **दण्ड/बल (सेना):** राज्य की सुरक्षा और विस्तार के लिए एक सुसंगठित और बड़ी सेना आवश्यक थी। इसका नेतृत्व तीन महान सेनापति करते थे [11]।
7. **मित्र (सहयोगी):** ये पड़ोसी या दूरस्थ मित्र राज्य थे, जो विदेशी नीति और अंतर्राष्ट्रीय मान्यता के समतुल्य थे [9]।

कौटिल्य ने राज्य को इन सात परस्पर क्रियाशील अंगों के रूप में परिभाषित करके, एक अमूर्त विचार के बजाय व्यावहारिक राजनीति के लिए एक मूर्त और लागू करने योग्य ढाँचा प्रदान किया। यह सिद्धांत दर्शाता है कि मौर्य साम्राज्य का राजनीतिक चिंतन केवल आदर्शवादी नहीं था, बल्कि कठोरता से कार्यात्मक था, जिसका प्राथमिक उद्देश्य विशाल साम्राज्य में स्थिरता और निरंतरता सुनिश्चित करना था।

II.B. एकात्मकता बनाम केंद्रीकरण पर विमर्श

मौर्य साम्राज्य को एक अत्यंत केंद्रीकृत और कुशल प्रणाली माना जाता है, जिसमें सम्राट के पास सर्वोच्च अधिकार था [3]। यद्यपि यह एकात्मक राजतंत्र नहीं हो सकता, यह निश्चित रूप से एक अत्यधिक केंद्रीकृत साम्राज्य था [16]।

केंद्रीकृत नियंत्रण के प्रमाण: केंद्र सरकार द्वारा नियुक्त प्रांतपति सीधे राजा को जवाबदेह होते थे [16]। गुप्तचर तंत्र (*गूढपुरुष*) अत्यंत विकसित था, जो वेश बदलकर सूचनाएँ प्राप्त करता था और केंद्र को रिपोर्ट करता था, जो दूरस्थ क्षेत्रों पर भी सख्त निगरानी बनाए रखने की केंद्रीय इच्छा को पुष्ट करता है [11]।

सप्तांग सिद्धांत में *कोष* और *बल* को एक साथ उच्च महत्व दिया जाना दर्शाता है कि यह राज्य **राजकोषीय सैन्यवाद (Fiscal Militarism)** की ओर झुकाव रखता था। इस सिद्धांत के तहत, राजा को सैन्य शक्ति (*दण्ड*) को लगातार मजबूत करने की आवश्यकता होती थी, और *कोष* को इस बल का आधार माना गया [11]। इस प्रकार, प्रशासन और अर्थव्यवस्था का कठोर नियंत्रण (जो अगले खंडों में वर्णित है) सीधे तौर पर इस कार्यात्मक राज्य दर्शन से जुड़ा हुआ था, जिसका उद्देश्य विशाल सैन्य और प्रशासनिक खर्चों को वित्तपोषित करना था।

हालांकि, स्थानीय स्तर पर कुछ लोकतांत्रिक या गणतंत्रीय व्यवस्थाएँ भी मौजूद थीं (जैसे अंबष्ठों, क्षुद्रकों और मालवों में), जो शांति संधि के लिए प्रतिनिधि भेजते थे, यह दर्शाता है कि केंद्रीकृत नियंत्रण के बावजूद, स्थानीय स्तर पर कुछ हद तक अधिकारों का विकेंद्रीकरण किया गया था [12]।

III. मौर्यकालीन प्रशासन की जटिल संरचना

मौर्य प्रशासन अपनी सुनियोजित, श्रेणीबद्ध और कुशल नौकरशाही प्रणाली के लिए प्रसिद्ध था, जिसे विद्वानों ने अकबर के मुगल प्रशासन से भी अधिक संगठित बताया है [17]।

III.A. केंद्रीय प्रशासन और उच्चाधिकारी (*तीर्थ*)

राजा प्रशासन का सर्वोच्च प्रमुख था, जिसे *मंत्रिपरिषद्* और *महामात्यों* का सहयोग प्राप्त होता था [11]। प्रशासन श्रेणीबद्ध था, और उच्चाधिकारी, जिन्हें **तीर्थ** कहा जाता था, उन्हें 48,000 *पन* तक का नगद वेतन मिलता था [11]।

केंद्रीय प्रशासन में महत्वपूर्ण पदाधिकारियों की भूमिका सारणी 1 में दर्शाई गई है:

Table 1: मौर्यकालीन केंद्रीय प्रशासनिक अधिकारी (*तीर्थ*) और उनके कार्य

तीर्थ (पद)	विभाग/कार्यक्षेत्र	महत्वपूर्ण भूमिका	स्रोत
समाहर्ता	राजस्व विभाग	आय और व्यय का अनुमान, करों का संग्रहण और प्रभार	[18]
सन्निधाता	कोषागार विभाग	राजकीय कोष, भंडारगृहों, और अन्न भंडार का प्रबंधन	[11]
सीताध्यक्ष	राजकीय कृषि विभाग	राजकीय भूमि (*सीता*) पर कृषि का प्रबंधन और राजस्व संग्रह	[19]
पण्याध्यक्ष	व्यापार और वाणिज्य विभाग	वस्तुओं के मूल्य निर्धारण, विक्रय, और बिक्री कर का नियंत्रण	[19]
अक्षपटलाध्यक्ष	महालेखाकार	लेखा-जोखा और दस्तावेजों का रखरखाव, ऑडिटिंग	[19]

देवताध्यक्ष	धार्मिक संस्थान	धार्मिक संस्थानों का अध्यक्ष, पुरोहित के अधीन कार्य करना	[22]

III.B. प्रांतीय और स्थानीय प्रशासन

साम्राज्य को चार मुख्य प्रांतों—स्वर्णगिरि, उज्जैन, तक्षशिला, और तोसली—में विभाजित किया गया था, जिनका प्रशासन राजकुमारों (*कुमार*) या उच्च अधिकारियों द्वारा किया जाता था[11]। प्रांतीय प्रशासन केंद्र के प्रशासनिक मॉडल का प्रतिरूप था, जिससे पूरे साम्राज्य में एकरूपता बनी रहती थी[11]।

स्थानीय प्रशासन: जिला स्तर पर प्रमुख अधिकारी *स्थानिक* था। ग्रामीण स्तर पर *गोप* 5 से 10 गाँवों का प्रबंधन करते थे और राजस्व एकत्रण के लिए उत्तरदायी थे[11]। प्रशासन की सबसे छोटी इकाई गाँव थी, जिसका प्रधान *ग्रामणी* या *ग्रामिक* होता था। गाँव अर्ध-स्वायत्त थे, और ग्राम बुजुर्गों की परिषद स्थानीय व्यवस्था और विवाद समाधान का कार्य देखती थी[11]।

मौर्य प्रशासन की दक्षता उच्च केंद्रीकृत नीति निर्माण (*तीर्थों* द्वारा) और निचले स्तर पर विकेंद्रीकृत कार्यान्वयन के मिश्रण से प्राप्त होती थी। केंद्र ने उच्च वेतन वाले *तीर्थों* को नियुक्त करके नीति और राजस्व संग्रह पर कठोर नियंत्रण रखा (केंद्रीकरण), जबकि *ग्रामणी* और नगरीय समितियों को दैनिक व्यवस्था के लिए *अर्ध-स्वायत्तता* दी गई, जिसने स्थिरता सुनिश्चित की।

III.C. नगरीय प्रशासन (मेगस्थनीज के अनुसार)

मेगस्थनीज ने मौर्यकालीन नगरीय प्रशासन का विस्तृत वर्णन किया है। नगरों के प्रबंधन का प्रभारी *नागरिक* या *एण्टीनोमोई* (नगर आयुक्त) होता था[11]। मेगस्थनीज के अनुसार, पाटलिपुत्र का नगर परिषद छह समितियों में विभाजित था, जिनमें से प्रत्येक में पाँच सदस्य होते थे[24]।

ये समितियाँ समाज के हर पहलू को कवर करती थीं: 1. उद्योग और शिल्प का निरीक्षण; 2. विदेशियों की देखरेख; 3. जन्म-मृत्यु पंजीकरण (जनगणना); 4. व्यापार और वाणिज्य की व्यवस्था; 5. विक्रय और उत्पादों का निरीक्षण; 6. कर उसूलने की व्यवस्था[24]।

नगरीय प्रशासन के लिए छह विशिष्ट समितियों की उपस्थिति राज्य द्वारा आर्थिक और सामाजिक जीवन पर *अत्यधिक निगरानी* का संकेत देती है। यह दर्शाता है कि राज्य केवल कर संग्रहकर्ता नहीं था, बल्कि एक सक्रिय सामाजिक अभियंता था जो नागरिक जीवन के हर पहलू को नियंत्रित करने का प्रयास करता था।

मेगस्थनीज ने भारतीय समाज को उसके व्यवसाय के आधार पर सात वर्गों में वर्गीकृत किया था, जैसा कि सारणी 3 में दर्शाया गया है:

Table 3: मेगस्थनीज द्वारा वर्णित भारतीय समाज के सात वर्ग

क्रम	वर्ग (Occupation)	भूमिका	स्रोत
1.	दार्शनिक (Philosophers)	ब्राह्मण एवं विद्वान, शाही सलाहकार, संख्या में अल्प	[6]

2.	कृषक (Farmers)	संख्या में सर्वाधिक, अर्थव्यवस्था का आधार	[6]
3.	चरवाहा (Shepherds)	पशुपालक और आखेटक	[6]
4.	कारीगर (Artisans)	व्यापारी, मज़दूर एवं शिल्पकार	[6]
5.	सैन्य (Military)	सुसंगठित सेना, राज्य के खर्च पर रखा गया	[6]
6.	ओवरसियर (Overseers)	प्रशासनिक कार्यकर्ता, मजिस्ट्रेट को रिपोर्ट करते थे (गुप्तचर)	[6]
7.	पार्षद/मूल्यांकनकर्ता	सार्वजनिक मामलों पर शाही सलाहकार, कोषाध्यक्ष, न्याय अधिकारी (उच्चतम वर्ग)	[6]

III.D. न्यायिक व्यवस्था

न्यायिक व्यवस्था पदानुक्रमित थी, जिसमें राजा सर्वोच्च न्यायाधीश था[15]। मौर्यकालीन न्यायालय मुख्यतः दो प्रकार के थे, जो कौटिल्य के अनुसार स्थापित थे:

1. **धर्मस्थीय न्यायालय (दीवानी):** ये विवाह, उत्तराधिकार और दीवानी मामलों का निपटारा करते थे। इनका संचालन तीन *धर्मज्ञ* न्यायाधीशों और तीन *अमात्यों* द्वारा किया जाता था[11]।
2. **कंटकशोधन न्यायालय (फौजदारी):** इन्हें फ़ौजदारी अदालतें माना जाता था, जिनका मुख्य कार्य समाज विरोधी तत्वों (*कंटकों*) को हटाना और अपराधों पर नियंत्रण रखना था। इनमें तीन *प्रदेष्टि* और तीन *अमात्य* होते थे[11]।

दण्ड व्यवस्था कठोर थी (जुर्माना, अंग-भंग, मृत्युदंड)[11], हालांकि दण्ड की कठोरता में वर्ण व्यवस्था का प्रभाव भी था, क्योंकि ब्राह्मणों को शूद्रों की तुलना में कम सजा दी जाती थी[25]।

IV. मौर्य अर्थव्यवस्था: राज्य नियंत्रण और व्यापारिक प्रभुत्व

मौर्य अर्थव्यवस्था कृषि, पशुपालन और वाणिज्य पर आधारित थी, लेकिन इसकी मुख्य विशेषता राज्य द्वारा आर्थिक गतिविधियों का अत्यधिक केंद्रीकरण और नियंत्रण था[19]।

IV.A. कृषि और भू-राजस्व

अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार कृषि था। भूमि पर राजा का अधिकार होता था, जिसे **सीता** भूमि कहा जाता था[19]। राजकीय कृषि विभाग का प्रधान **सीताध्यक्ष** था, जो इस भूमि पर दास और कर्मकारों से कृषि कार्य करवाता था[19]।

राजस्व संग्रहण का प्रभारी अधिकारी **समाहर्ता** था[18]। कर की दरें उच्च थीं; उत्पादन का 1/6 भाग सामान्य कर के रूप में लिया जाता था (मेगस्थनीज के अनुसार 1/4)[20]। विशेष रूप से, राज्य द्वारा सिंचित क्षेत्रों में सिंचाई कर **उदकभाग** के रूप में वसूल किया जाता था, जो उत्पादन का 1/3 हिस्सा होता था[20]। *सीताध्यक्ष* का अस्तित्व और *उदकभाग* जैसे उच्च करों से यह स्पष्ट होता है कि मौर्य राज्य कल्याणकारी

उद्देश्यों के साथ-साथ एक **राजस्व-संग्रहकारी राज्य** भी था, जिसका प्राथमिक लक्ष्य विशाल प्रशासनिक और सैन्य तंत्र के वित्तपोषण के लिए अधिकतम राजस्व प्राप्त करना था।

IV.B. उद्योग, शिल्प और व्यापार

उद्योग: सूत कातने और बुनने का उद्योग सबसे प्रमुख था[20]। बंग का मलमल विश्व प्रसिद्ध था, और काशी, कलिंग, मथुरा सूती वस्त्रों के लिए जाने जाते थे[20]। चीन से आयातित रेशमी वस्त्र को **चिनांशुक** कहा जाता था, जबकि भारत का रेशमी वस्त्र **क्षोम** कहलाता था[30]।

आर्थिक नियंत्रण: व्यापार विभाग का प्रमुख **पण्यध्यक्ष** होता था, जो मूल्य निर्धारण और विक्रय को नियंत्रित करता था[19]। राज्य द्वारा बेची जाने वाली वस्तुओं को **राजपण्य** कहा जाता था[20]। देशी उत्पादों पर 4% और आयातित वस्तुओं पर 10% बिक्री कर वसूला जाता था[20]।

वाणिज्य और मुद्रा: आंतरिक और विदेशी व्यापार दोनों जलमार्गों के माध्यम से किए जाते थे[29]। पूर्वी तट पर **ताम्रलिप्ति** और पश्चिमी तट पर **भड़ौच** तथा **सोपारा** प्रमुख बंदरगाह थे[20]। मुद्रा पर राज्य का पूर्ण एकाधिकार था। सोने, चांदी और तांबे के **आहत सिक्के** प्रचलन में थे। जाली सिक्के बनाने पर कठोर दंड दिया जाता था[29]।

सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन: लोहे के औजारों के प्रचुर प्रयोग ने कृषि योग्य भूमि में वृद्धि की, जिससे व्यापार और वाणिज्य में तेजी आई और नवोदित वैश्य वर्ग (व्यापारी) आर्थिक रूप से शक्तिशाली हो गया[31]। वैदिक धर्म में पशुबलि और सूदखोरी की निंदा के कारण, इस वैश्य वर्ग ने अपने हितों की सुरक्षा और सामाजिक श्रेष्ठता के दावे को मजबूत करने के लिए बौद्ध धर्म जैसे नवीन, समतामूलक और अहिंसक मतों के उदय को महत्वपूर्ण आर्थिक समर्थन दिया[32]।

V. सम्राट अशोक का धम्म: प्रकृति और प्रयोजन

कलिंग युद्ध के बाद, सम्राट अशोक ने युद्ध के माध्यम से विजय (दिग्विजय) को त्यागकर नैतिक विजय (**धम्म विजय**) का मार्ग अपनाया[33]। अशोक का धम्म उनके शासन की आधारशिला थी, जिसका उद्देश्य साम्राज्य के निवासियों के बीच सामाजिक नैतिकता का विकास करना था[34]।

V.A. धम्म की अवधारणा

अशोक का धम्म किसी विशिष्ट धार्मिक अनुष्ठान या पूजा पद्धति पर केंद्रित *धर्म* नहीं था[34]। यह बौद्ध धर्म के कुछ मूलभूत मूल्यों (शील, करुणा, विवेक) से प्रेरित था, लेकिन यह बौद्ध धर्म का पर्याय नहीं था, बल्कि एक सार्वभौमिक **नैतिक आचार संहिता** थी, जो सिद्धांत पर कम और व्यावहारिकता पर अधिक केंद्रित थी[35]। धम्म का मूल केंद्र *मानव-मानव के बीच के व्यवहार* को सुधारना था[35]।

धम्म को धार्मिक संस्था के बजाय एक **प्रशासनिक उपकरण** के रूप में उपयोग किया गया था, जिसका उद्देश्य साम्राज्य के विविध सांस्कृतिक और भाषाई समूहों के बीच सामाजिक एकीकरण और सुसंगति सुनिश्चित करना था। चूंकि धम्म ने सभी संप्रदायों (ब्राह्मण, श्रमण) के बीच सहिष्णुता और सद्भाव की अपील की[33], यह धार्मिक रूपांतरण के बजाय राजनीतिक स्थिरता के लिए एक नैतिक बंधन प्रदान करता था।

V.B. धम्म के मूल सिद्धांत

धम्म के सिद्धांतों को 14 वृहद शिलालेखों और स्तंभ लेखों के माध्यम से प्रचारित किया गया। सारणी 2 धम्म के मूल तत्वों को दर्शाती है:

Table 2: अशोक के धम्म के मूल सिद्धांत और प्रचार माध्यम

धम्म का सिद्धांत	मूल तत्व/व्याख्या	प्रचार/क्रियान्वयन का माध्यम	स्रोत
अहिंसा	पशु बलि पर प्रतिबंध, अनावश्यक समारोहों की निंदा	शिलालेख 1, धर्म यात्राओं का प्रारंभ	[33]
सामाजिक सद्भाव	माता-पिता, ब्राह्मणों, श्रमणों का सम्मान, दासों के प्रति उदारता	शिलालेख 5, धम्म महामात्यों द्वारा निगरानी	[7]
धार्मिक सहिष्णुता	सभी संप्रदायों (ब्राह्मणों सहित) के बीच सद्भाव और सहिष्णुता	शिलालेख 7, 12	[7]
कल्याणकारी कार्य	मानव और पशु चिकित्सालयों का निर्माण, सड़कों पर पेड़ लगाना	सार्वजनिक सेवा और कल्याण योजनाएँ	
धम्म विजय	युद्ध के स्थान पर नैतिक और आध्यात्मिक विजय पर जोर	शिलालेख 13, धर्म प्रचारकों का विदेश गमन	

V.C. धम्म का संस्थागतकरण और प्रचार

धम्म को एक संस्थागत रूप देने के लिए अशोक ने महत्वपूर्ण कदम उठाए:

1. **धम्म महामात्यों की नियुक्ति:** शासन के 10वें वर्ष में इन उच्चाधिकारियों की नियुक्ति की गई [33]। ये सामान्य प्रचारक नहीं थे; वे उच्च पदस्थ प्रशासनिक अधिकारी थे जिनका कार्य सामाजिक कल्याण, न्याय और धम्म के अनुरूप आचरण सुनिश्चित करना था। उन्हें बौद्ध संघ में फूट डालने वाले तत्वों को बहिष्कृत करने का अधिकार भी दिया गया था [8]। *धम्म महामात्यों* की नियुक्ति ने नैतिकता को सीधे प्रशासनिक मशीनरी में एकीकृत कर दिया, जिससे राजा की नैतिक इच्छा को दूरस्थ क्षेत्रों तक लागू करना संभव हुआ।
2. **धर्म यात्राएँ:** अशोक ने शिकार की *विहार यात्राओं* को त्यागकर *धम्म यात्राएँ* शुरू कीं। उन्होंने बोध गया और लुम्बिनी (कर घटाकर 1/8) की यात्रा की [7]।
3. **अंतर्राष्ट्रीय प्रचार:** अशोक ने अपने पुत्र-पुत्री सहित धर्म प्रचारकों को नेपाल, श्रीलंका, अफगानिस्तान, सीरिया, मिस्र और यूनान जैसे विदेशी राज्यों में भेजा। इस व्यापक प्रयास ने बौद्ध धर्म को स्थानीय धर्म से उठाकर विश्व धर्म का रूप दिया [34]।

V.D. धम्म की राजनीतिक उपयोगिता

अशोक की धम्म नीति विशुद्ध रूप से परोपकारी नहीं थी; यह राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति में भी सहायक थी। धम्म ने साम्राज्य के विशाल विस्तार और विविधता के बावजूद एक साझा नैतिक आधार प्रदान किया, जिससे राजनीतिक नियंत्रण में सहायता मिली [37]।

हालांकि, अशोक ने कठोर व्यावहारिकता भी बनाए रखी [37]। उसने शांति का प्रचार किया, लेकिन सेना को विघटित नहीं किया। उसने जनजातियों को नैतिक व्यवस्था का पालन न करने पर बुरे परिणाम भुगतने की धमकी दी [37]। साथ ही, उसने अपने अधिकारियों को दंड देने का अधिकार प्रदान किया [37]। यह विरोधाभास दर्शाता है कि अशोक की राजनीति धम्म नीति से पूर्णतः बंधी नहीं थी, बल्कि धम्म एक उपकरण था जिसका उपयोग उसने स्थिरता और नैतिक शासन स्थापित करने के लिए किया, जिसे संप्रभु शक्ति द्वारा समर्थित किया गया था।

VI. निष्कर्ष: मौर्य साम्राज्य की विरासत और पतन के कारण

VI.A. मौर्यकालीन विरासत

मौर्य साम्राज्य ने भारत को एक एकीकृत राजनीतिक इकाई, एक सुव्यवस्थित प्रशासनिक मॉडल, और एक केंद्रीकृत आर्थिक संरचना प्रदान की, जिसकी प्रशंसा स्मिथ ने भी की [17]।

कलात्मक विरासत: मौर्य काल में राजकीय कला और लोक कला का विकास हुआ। अशोक स्तंभ एकाश्म प्रस्तर की उत्कृष्ट कृतियाँ हैं [39]। सारनाथ का सिंह-चतुर्मुख स्तंभशीर्ष (भारत का राष्ट्रीय प्रतीक) और उस पर अंकित धर्मचक्र (24 तीलियाँ) अशोक के धम्म और नैतिक मूल्यों का शाश्वत प्रतीक है [40]। अशोक ने साँची और भरहुत जैसे कई स्तूपों का निर्माण और गुहा वास्तु (जैसे बराबर गुफाएँ) को भी संरक्षण प्रदान किया [39]।

VI.B. पतन के कारण

मौर्य साम्राज्य का अंत 185 ईसा पूर्व में हुआ, जब अंतिम शासक **बृहद्रथ** की हत्या उसके सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने कर दी [1]। इस पतन के लिए निम्नलिखित जटिल कारक जिम्मेदार थे:

1. **केंद्रीकरण की दोधारी तलवार:** मौर्यों की सफलता (कुशल नियंत्रण) का आधार, अत्यधिक केंद्रीकृत ढाँचा, उनके पतन का कारण बन गया। यह व्यवस्था राजा की व्यक्तिगत क्षमता पर अत्यधिक निर्भर थी [44]। कमजोर उत्तराधिकारियों (जैसे शालिसुक, देववर्मन) के आने पर, केंद्रीकरण का ढाँचा अप्रभावी हो गया, और दूरस्थ प्रांतों पर नियंत्रण बनाए रखना असंभव हो गया [44]।
2. **आर्थिक दबाव और संकट:** विशाल प्रशासनिक नौकरशाही (उच्च वेतन वाले *तीर्थ*) और सैन्य तंत्र को बनाए रखने का खर्च अत्यधिक था। डी डी कौशाम्बी ने इस भारी खर्च के कारण उत्पन्न आर्थिक संकट को पतन का एक प्रमुख कारण माना [44]।
3. **ब्राह्मणवादी प्रतिक्रिया:** अशोक के बौद्ध धर्म के प्रति झुकाव और धम्म नीति द्वारा पारंपरिक ब्राह्मणवादी अनुष्ठानों और शक्ति को सीमित करने के प्रयास ने रूढ़िवादी तत्वों के बीच असंतोष पैदा किया [37]। अंतिम मौर्य सम्राट की हत्या एक ब्राह्मण सेनापति द्वारा किया जाना, इस सामाजिक-धार्मिक तनाव की एक संभावित परिणति के रूप में देखा जाता है।

मौर्य साम्राज्य की विरासत एक शक्तिशाली और केंद्रीकृत राज्य की स्थापना में है, जिसने प्रशासन, कराधान और नैतिक शासन के लिए मानक स्थापित किए। हालांकि, इस केंद्रीकृत मॉडल की आंतरिक कमजोरियों, विशेष रूप से कमजोर नेतृत्व के सामने, और निरंतर आर्थिक दबावों ने अंततः इस महान साम्राज्य के पतन का मार्ग प्रशस्त किया।

राकेश मोहन नौटियाल

मौर्योत्तर युग: शुंग, सातवाहन और कुषाणों के विशेष संदर्भ में राजनीति, अर्थव्यवस्था, समाज, संस्कृति एवं प्रशासन

प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय इतिहास में मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद का काल अत्यंत महत्वपूर्ण परिवर्तन और विकास का युग था। मौर्य साम्राज्य ने चन्द्रगुप्त मौर्य, बिन्दुसार और सम्राट अशोक के शासनकाल में भारतीय उपमहाद्वीप के विशाल भूभाग को एक राजनीतिक सूत्र में बाँधा था। अशोक की मृत्यु (लगभग 232 ईसा पूर्व) के बाद मौर्य साम्राज्य की केंद्रीय शक्ति कमजोर होने लगी और अंततः लगभग 185 ईसा पूर्व में अंतिम मौर्य शासक बृहद्रथ की उसके सेनापति पुष्यमित्र शुंग द्वारा हत्या कर दी गई। इसके साथ ही मौर्य साम्राज्य का अंत हुआ और भारतीय इतिहास में मौर्योत्तर युग का आरम्भ हुआ।

मौर्योत्तर युग को सामान्यतः लगभग 200 ईसा पूर्व से 300 ईस्वी तक के कालखंड के रूप में देखा जाता है। इस अवधि में भारतीय उपमहाद्वीप में अनेक क्षेत्रीय और विदेशी मूल के राजवंशों का उदय हुआ। उत्तर भारत में शुंग और कण्व वंश, उत्तर-पश्चिम में इंडो-ग्रीक, शक, पार्थियन तथा कुषाण शासक, जबकि दक्षिण और दक्कन क्षेत्र में सातवाहन वंश प्रमुख राजनीतिक शक्तियों के रूप में उभरे। इन राजवंशों ने न केवल राजनीतिक सत्ता का पुनर्गठन किया, बल्कि व्यापार, कृषि, शहरीकरण, धर्म, कला, साहित्य, स्थापत्य और सांस्कृतिक संपर्कों को भी नई दिशा प्रदान की।

मौर्योत्तर युग की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि मौर्यकालीन विशाल साम्राज्यवादी व्यवस्था के स्थान पर अनेक क्षेत्रीय राज्यों का विकास हुआ। इन राज्यों ने स्थानीय परिस्थितियों, आर्थिक संसाधनों, व्यापारिक मार्गों और सामाजिक संरचनाओं के आधार पर अपनी शासन व्यवस्था विकसित की। इस काल में भारत का मध्य एशिया, पश्चिम एशिया, रोमन साम्राज्य और दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ संपर्क बढ़ा। परिणामस्वरूप भारतीय अर्थव्यवस्था अधिक व्यापक व्यापारिक नेटवर्क से जुड़ी और सांस्कृतिक आदान-प्रदान को प्रोत्साहन मिला।

इस युग के अध्ययन में तीन प्रमुख राजवंश विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं—

1. **शुंग वंश** – मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद उत्तर भारत में उभरने वाली प्रमुख शक्ति।
2. **सातवाहन वंश** – दक्कन और दक्षिण भारत के बड़े भूभाग में राजनीतिक एकता तथा व्यापारिक विकास का आधार।
3. **कुषाण वंश** – उत्तर-पश्चिम भारत और मध्य एशिया को जोड़ने वाला विशाल साम्राज्य, जिसने अंतरराष्ट्रीय व्यापार तथा गांधार-मथुरा कला को प्रोत्साहन दिया।

इन तीनों राजवंशों के राजनीतिक, प्रशासनिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक योगदान का अध्ययन मौर्योत्तर भारतीय इतिहास की व्यापक समझ विकसित करने में सहायक है।

1. मौर्योत्तर युग की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

1.1 मौर्य साम्राज्य का पतन

मौर्य साम्राज्य प्राचीन भारत का पहला विशाल साम्राज्य था, जिसने उपमहाद्वीप के बड़े हिस्से को एक केंद्रीय शासन के अधीन संगठित किया। चन्द्रगुप्त मौर्य ने इसकी स्थापना की और अशोक के शासनकाल में इसका सर्वाधिक विस्तार हुआ। अशोक ने कलिंग युद्ध के बाद धम्म की नीति अपनाई तथा नैतिक शासन, धार्मिक सहिष्णुता और जनकल्याण को विशेष महत्त्व दिया।

अशोक की मृत्यु के बाद साम्राज्य के विघटन की प्रक्रिया तेज हो गई। मौर्य साम्राज्य के पतन के लिए निम्नलिखित कारण उत्तरदायी थे—

(क) कमजोर उत्तराधिकारी

अशोक के बाद मौर्य सिंहासन पर बैठे शासक उतने शक्तिशाली और कुशल नहीं थे। वे विशाल साम्राज्य पर प्रभावी नियंत्रण बनाए रखने में असफल रहे। परिणामस्वरूप विभिन्न प्रांतों में केंद्रीय सत्ता के विरुद्ध असंतोष और स्वायत्तता की प्रवृत्ति बढ़ने लगी।

(ख) विशाल साम्राज्य का प्रशासनिक संकट

मौर्य साम्राज्य का विस्तार अत्यंत व्यापक था। इतने बड़े भूभाग पर नियंत्रण बनाए रखने के लिए विशाल प्रशासनिक तंत्र और नियमित राजस्व की आवश्यकता थी। कमजोर केंद्रीय सत्ता के कारण प्रशासनिक नियंत्रण धीरे-धीरे शिथिल हो गया।

(ग) प्रांतीय विद्रोह और क्षेत्रीय शक्तियों का उदय

मौर्य साम्राज्य के विभिन्न क्षेत्रों में स्थानीय शासकों और अधिकारियों की शक्ति बढ़ने लगी। प्रांतीय प्रशासन में नियुक्त अधिकारी धीरे-धीरे स्वतंत्र सत्ता स्थापित करने लगे। इससे साम्राज्य की एकता प्रभावित हुई।

(घ) आर्थिक कठिनाइयाँ

विशाल सेना, प्रशासनिक व्यवस्था, निर्माण कार्यों और राजकीय गतिविधियों पर अत्यधिक व्यय होता था। साम्राज्य के विघटन के साथ राजस्व व्यवस्था भी प्रभावित हुई। हालांकि मौर्य साम्राज्य के पतन को केवल आर्थिक संकट का परिणाम मानना उचित नहीं है।

(ङ) सैन्य शक्ति का कमजोर होना

केंद्रीय शासन के कमजोर होने से सेना पर नियंत्रण भी प्रभावित हुआ। सीमावर्ती क्षेत्रों में विदेशी आक्रमणों और स्थानीय शक्तियों के उदय ने साम्राज्य को और कमजोर किया।

(च) राजनीतिक एवं प्रशासनिक परिवर्तन

मौर्य साम्राज्य की केंद्रीकृत प्रशासनिक व्यवस्था के स्थान पर क्षेत्रीय शक्तियों का उदय हुआ। स्थानीय राजवंशों ने अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप नई राजनीतिक और प्रशासनिक व्यवस्थाएँ विकसित कीं।

1.2 मौर्योत्तर युग की प्रमुख विशेषताएँ

मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद भारतीय इतिहास में निम्नलिखित प्रमुख परिवर्तन दिखाई देते हैं—

1. विशाल साम्राज्य के स्थान पर अनेक क्षेत्रीय राज्यों का उदय।
2. उत्तर-पश्चिम भारत में इंडो-ग्रीक, शक और कुषाण जैसी शक्तियों का प्रभाव।
3. दक्कन में सातवाहन साम्राज्य का विकास।
4. कृषि के विस्तार और नए क्षेत्रों के राजनीतिक एकीकरण की प्रक्रिया।
5. आंतरिक तथा विदेशी व्यापार में वृद्धि।
6. सिक्कों के प्रचलन और मुद्रा आधारित विनिमय का विस्तार।
7. नगरों, व्यापारिक केंद्रों और शिल्प उत्पादन का विकास।
8. बौद्ध धर्म, जैन धर्म और ब्राह्मण धर्म की विभिन्न परंपराओं का विकास।
9. स्तूप, चैत्य, विहार तथा मंदिर स्थापत्य का विस्तार।
10. गांधार, मथुरा और अमरावती जैसी कला शैलियों का उत्कर्ष।
11. संस्कृत, प्राकृत और विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं का विकास।
12. भारत और मध्य एशिया, पश्चिम एशिया तथा भूमध्यसागरीय संसार के बीच सांस्कृतिक संपर्क में वृद्धि।

इस प्रकार मौर्योत्तर युग राजनीतिक विखंडन के साथ-साथ आर्थिक विस्तार और सांस्कृतिक समन्वय का काल भी था।

2. शुंग वंश: राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं प्रशासनिक स्थिति

2.1 शुंग वंश की स्थापना

मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद उत्तर भारत में शुंग वंश का उदय हुआ। इसकी स्थापना लगभग 185 ईसा पूर्व में पुष्यमित्र शुंग ने की थी। वह अंतिम मौर्य शासक बृहद्रथ का सेनापति था। सैन्य निरीक्षण

के अवसर पर उसने बृहद्रथ की हत्या कर स्वयं सत्ता प्राप्त कर ली। इस घटना के साथ मौर्य वंश का अंत और शुंग वंश का आरम्भ हुआ।

शुंग वंश का शासन मुख्यतः मध्य गंगा घाटी और मध्य भारत के कुछ क्षेत्रों में केंद्रित था। इसकी राजधानी पाटलिपुत्र थी, जबकि विदिशा भी एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक और सांस्कृतिक केंद्र के रूप में विकसित हुआ।

शुंग वंश के प्रमुख शासक निम्नलिखित थे—

- पुष्यमित्र शुंग
- अग्निमित्र
- वसुमित्र
- भागभद्र
- देवभूति

शुंग वंश के इतिहास की जानकारी पुराणों, बाणभट्ट की *हर्षचरित*, पतंजलि के *महाभाष्य*, कालिदास के नाटक *मालविकाग्निमित्रम्* तथा अभिलेखीय और पुरातात्विक स्रोतों से प्राप्त होती है।

2.2 शुंगों की राजनीतिक स्थिति

(क) पुष्यमित्र शुंग की उपलब्धियाँ

पुष्यमित्र शुंग शुंग वंश का संस्थापक और सबसे महत्त्वपूर्ण शासक था। उसने मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद उत्तर भारत में राजनीतिक स्थिरता स्थापित करने का प्रयास किया।

उसके शासनकाल में मध्य भारत और गंगा घाटी के कुछ क्षेत्रों पर शुंगों का नियंत्रण रहा। पुष्यमित्र ने अपनी राजनीतिक वैधता और राजकीय प्रतिष्ठा को स्थापित करने के लिए वैदिक यज्ञों का आयोजन किया।

(ख) यवन आक्रमणों का प्रतिरोध

पुष्यमित्र शुंग के शासनकाल में उत्तर-पश्चिम से यवनों अर्थात् इंडो-ग्रीक शासकों के आक्रमण हुए। पतंजलि के *महाभाष्य* में यवनों द्वारा साकेत और माध्यमिका की घेराबंदी का उल्लेख मिलता है। कालिदास के *मालविकाग्निमित्रम्* में वसुमित्र द्वारा यवनों के विरुद्ध विजय का वर्णन मिलता है।

इन विवरणों से स्पष्ट होता है कि शुंग शासकों को उत्तर-पश्चिम से आने वाली राजनीतिक और सैन्य चुनौतियों का सामना करना पड़ा।

(ग) अश्वमेध यज्ञ

पुष्यमित्र शुंग ने अपनी सार्वभौमिक सत्ता और राजकीय प्रतिष्ठा को प्रदर्शित करने के लिए अश्वमेध यज्ञ आयोजित किया। अयोध्या अभिलेख में पुष्यमित्र द्वारा दो अश्वमेध यज्ञ किए जाने का उल्लेख मिलता है। अश्वमेध यज्ञ वैदिक परंपरा में राजा की राजनीतिक प्रभुता और सार्वभौमिकता का प्रतीक था।

(घ) अग्निमित्र का शासन

पुष्यमित्र के बाद उसका पुत्र अग्निमित्र शासक बना। कालिदास के नाटक *मालविकाग्निमित्रम्* में अग्निमित्र का उल्लेख मिलता है। वह विदिशा का शासक था और शुंग प्रशासन में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान था। इस नाटक से तत्कालीन राजदरबार, राजनीतिक संबंधों और सामाजिक जीवन की जानकारी मिलती है।

(ङ) शुंग साम्राज्य का पतन

शुंग वंश के अंतिम शासक देवभूति की हत्या उसके मंत्री वसुदेव कण्व ने लगभग 73 ईसा पूर्व में कर दी। इसके साथ शुंग वंश का अंत हुआ और कण्व वंश की स्थापना हुई।

2.3 शुंगकालीन प्रशासन

शुंग प्रशासन के विषय में मौर्य प्रशासन की तुलना में कम जानकारी उपलब्ध है। फिर भी साहित्यिक और अभिलेखीय स्रोतों से इसकी कुछ विशेषताओं का पता चलता है।

(क) राजतंत्रात्मक शासन

शुंग शासन व्यवस्था राजतंत्रात्मक थी। राजा प्रशासन, सेना, न्याय और राजस्व का सर्वोच्च अधिकारी होता था। राजसत्ता सामान्यतः वंशानुगत थी।

(ख) मंत्रिपरिषद और अधिकारी

राजा को शासन संचालन में मंत्रियों और अधिकारियों की सहायता प्राप्त होती थी। शुंग काल में मौर्यकालीन प्रशासनिक परंपराओं के कुछ तत्त्व जारी रहे होंगे, लेकिन प्रशासनिक ढाँचे में क्षेत्रीय परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन हुए।

(ग) प्रांतीय प्रशासन

शुंग शासन के अंतर्गत विभिन्न क्षेत्रों का प्रशासन राजपरिवार के सदस्यों अथवा विश्वसनीय अधिकारियों के माध्यम से संचालित किया जाता था। अग्निमित्र का विदिशा से संबंध इस बात का उदाहरण है कि महत्त्वपूर्ण नगरों में राजकुमारों की नियुक्ति की जा सकती थी।

(घ) सैन्य व्यवस्था

शुंग शासकों के लिए सेना का विशेष महत्त्व था। विदेशी आक्रमणों और क्षेत्रीय संघर्षों के कारण सैन्य संगठन आवश्यक था। पुष्यमित्र स्वयं सेनापति रहा था, इसलिए उसकी सत्ता की स्थापना में सैन्य शक्ति की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी।

(ङ) राजस्व व्यवस्था

राज्य की आय का प्रमुख स्रोत कृषि भूमि से प्राप्त कर था। इसके अतिरिक्त व्यापार, शिल्प और अन्य आर्थिक गतिविधियों से भी राजस्व प्राप्त होता था।

2.4 शुंगकालीन अर्थव्यवस्था

शुंगकालीन अर्थव्यवस्था का आधार कृषि, पशुपालन, शिल्प और व्यापार था। मौर्य साम्राज्य के पतन के बावजूद आर्थिक गतिविधियाँ पूरी तरह समाप्त नहीं हुईं। बल्कि विभिन्न क्षेत्रीय राज्यों और व्यापारिक केंद्रों के विकास के साथ आर्थिक जीवन में नई गतिशीलता दिखाई देती है।

(क) कृषि

कृषि अर्थव्यवस्था का प्रमुख आधार थी। गंगा घाटी की उपजाऊ भूमि में धान, गेहूँ, जौ, दालों और अन्य फसलों का उत्पादन होता था। कृषि उत्पादन से राज्य को कर प्राप्त होता था।

(ख) पशुपालन

गाय, बैल, घोड़े, भेड़ और बकरियाँ आर्थिक जीवन के महत्त्वपूर्ण अंग थे। बैलों का उपयोग कृषि और परिवहन में किया जाता था। पशुधन सामाजिक प्रतिष्ठा और आर्थिक समृद्धि का भी प्रतीक था।

(ग) शिल्प और उद्योग

इस काल में मिट्टी के बर्तन, धातु के उपकरण, आभूषण, वस्त्र और पत्थर की मूर्तियों का निर्माण होता था। शिल्पकारों की विभिन्न श्रेणियाँ आर्थिक जीवन में सक्रिय थीं।

(घ) व्यापार

पाटलिपुत्र, विदिशा, उज्जयिनी और अन्य नगर व्यापारिक गतिविधियों के केंद्र थे। आंतरिक व्यापार के साथ-साथ उत्तर-पश्चिम भारत और मध्य एशिया से संपर्क भी बना हुआ था।

(ङ) मुद्रा का प्रचलन

शुंग काल में पंच-चिह्नित सिक्कों के साथ विभिन्न स्थानीय और ढाले हुए सिक्कों का उपयोग होता था। सिक्कों का प्रचलन व्यापार और विनिमय व्यवस्था की प्रगति को दर्शाता है।

2.5 शुंगकालीन सामाजिक स्थिति

शुंगकालीन समाज में वर्ण व्यवस्था और ब्राह्मण धर्म का प्रभाव बढ़ता दिखाई देता है। हालांकि सामाजिक जीवन केवल धार्मिक वर्ण-व्यवस्था तक सीमित नहीं था। व्यापारियों, शिल्पकारों, कृषकों, भिक्षुओं और नगरवासियों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका थी।

(क) वर्ण व्यवस्था

समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों का उल्लेख मिलता है। ब्राह्मणों को धार्मिक अनुष्ठानों और वैदिक ज्ञान के कारण प्रतिष्ठा प्राप्त थी।

(ख) ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान

पुष्यमित्र शुंग द्वारा वैदिक यज्ञों के आयोजन से ब्राह्मण धर्म को राजकीय संरक्षण मिलने का संकेत मिलता है। अश्वमेध जैसे यज्ञों ने वैदिक परंपरा और राजसत्ता के संबंध को पुनः सुदृढ़ किया।

(ग) महिलाओं की स्थिति

समाज में महिलाओं की स्थिति परिवार, सामाजिक वर्ग और आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार भिन्न थी। साहित्यिक स्रोतों में राजपरिवार की महिलाओं की राजनीतिक और सामाजिक भूमिका के संकेत मिलते हैं। *मालविकाग्निमित्रम्* में राजपरिवार और महिलाओं से संबंधित प्रसंग मिलते हैं।

(घ) व्यापारिक और शिल्पकार समुदाय

व्यापारी, श्रेष्ठी, सार्थवाह और शिल्पकार आर्थिक जीवन के महत्त्वपूर्ण अंग थे। दान और धार्मिक संस्थाओं के निर्माण में इन समुदायों का योगदान दिखाई देता है।

2.6 शुंगकालीन धार्मिक एवं सांस्कृतिक स्थिति

शुंग काल भारतीय धार्मिक और सांस्कृतिक इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस काल में ब्राह्मण धर्म, बौद्ध धर्म और अन्य धार्मिक परंपराएँ साथ-साथ विद्यमान थीं।

(क) ब्राह्मण धर्म का विकास

पुष्यमित्र शुंग ने वैदिक यज्ञों को संरक्षण दिया। अश्वमेध यज्ञ का आयोजन ब्राह्मण धार्मिक परंपरा के पुनरुत्थान का संकेत माना जाता है।

(ख) बौद्ध धर्म का अस्तित्व

कुछ पुराने लेखकों ने पुष्यमित्र को बौद्ध धर्म का विरोधी बताया है, लेकिन उपलब्ध पुरातात्त्विक प्रमाणों से यह स्पष्ट होता है कि शुंग काल में बौद्ध कला और स्थापत्य का विकास जारी रहा। इसलिए पूरे शुंग काल को बौद्ध धर्म के दमन का युग कहना ऐतिहासिक रूप से उचित नहीं है।

(ग) स्तूप निर्माण और विस्तार

इस काल में साँची स्तूप का विस्तार हुआ। इसके मूल निर्माण का संबंध अशोक से है, जबकि बाद के चरणों में इसका विस्तार और अलंकरण हुआ। भरहुत स्तूप की रेलिंगों और मूर्तिकला का विकास भी शुंग काल से संबंधित माना जाता है।

(घ) मूर्तिकला

शुंगकालीन कला में लोकजीवन, यक्ष-यक्षिणी, वृक्ष, पशु-पक्षी और जातक कथाओं का चित्रण मिलता है। भरहुत की मूर्तिकला में कथात्मक अभिव्यक्ति और प्रतीकात्मकता विशेष रूप से दिखाई देती है।

(ङ) साहित्य

पतंजलि का *महाभाष्य* इस काल की महत्त्वपूर्ण रचना है। कालिदास का *मालविकाग्निमित्रम्* शुंग इतिहास और दरबारी जीवन की जानकारी प्रदान करता है, यद्यपि इसकी रचना शुंग काल के काफी बाद हुई थी। इसलिए इसे समकालीन अभिलेखीय स्रोत के समान नहीं माना जाना चाहिए।

शुंग वंश का ऐतिहासिक महत्त्व

शुंग वंश ने मौर्योत्तर उत्तर भारत में राजनीतिक सत्ता का पुनर्गठन किया। इसने वैदिक धार्मिक परंपराओं को संरक्षण दिया और साथ ही उस काल में बौद्ध स्थापत्य तथा मूर्तिकला का विकास भी जारी रहा। साँची और भरहुत जैसे केंद्र इस युग की कलात्मक उपलब्धियों के महत्त्वपूर्ण उदाहरण हैं।

3. सातवाहन वंश: राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं प्रशासनिक स्थिति

3.1 सातवाहन वंश का उदय

सातवाहन वंश मौर्योत्तर भारत का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण राजवंश था। इसने मुख्यतः दक्कन क्षेत्र में शासन किया और दक्षिण तथा उत्तर भारत के बीच राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक संपर्कों को बढ़ावा दिया।

सातवाहनों को पुराणों में आंध्र अथवा आंध्रभृत्य भी कहा गया है। इनके प्रारम्भिक इतिहास, मूल क्षेत्र और जातीय पहचान के विषय में इतिहासकारों में मतभेद हैं। सामान्यतः सातवाहन सत्ता का उदय लगभग पहली शताब्दी ईसा पूर्व के आसपास माना जाता है, हालांकि इसकी प्रारम्भिक तिथि को लेकर विभिन्न मत हैं।

सातवाहनों के इतिहास की जानकारी पुराणों, नासिक, नानाघाट, कार्ले तथा अन्य अभिलेखों और सिक्कों से प्राप्त होती है।

सातवाहन वंश के प्रमुख शासक थे—

1. सिमुक

2. कृष्ण
3. शातकर्णि प्रथम
4. गौतमीपुत्र शातकर्णि
5. वशिष्ठीपुत्र पुलुमावी
6. यज्ञश्री शातकर्णि

इनमें गौतमीपुत्र शातकर्णि सबसे प्रसिद्ध शासक माना जाता है।

3.2 सातवाहनों की राजनीतिक स्थिति

(क) सिमुक: सातवाहन सत्ता का संस्थापक

पुराणों के अनुसार सिमुक सातवाहन वंश का प्रारम्भिक शासक था। उसे सातवाहन सत्ता का संस्थापक माना जाता है। उसने मौर्योत्तर दक्कन में राजनीतिक शक्ति का संगठन किया।

(ख) शातकर्णि प्रथम

शातकर्णि प्रथम सातवाहन वंश का प्रमुख प्रारम्भिक शासक था। नानाघाट अभिलेख में उसकी उपलब्धियों और वैदिक यज्ञों का उल्लेख मिलता है। उसकी पत्नी नागनिका ने भी राजकीय और धार्मिक गतिविधियों में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

शातकर्णि प्रथम ने अपनी राजनीतिक प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिए अश्वमेध और राजसूय जैसे यज्ञ किए। इससे उसकी शक्ति और राजकीय महत्वाकांक्षा का पता चलता है।

(ग) गौतमीपुत्र शातकर्णि

गौतमीपुत्र शातकर्णि सातवाहन वंश का सर्वाधिक शक्तिशाली शासक था। उसने लगभग पहली-दूसरी शताब्दी ईस्वी के संक्रमण काल में शासन किया। उसकी उपलब्धियों का वर्णन उसकी माता गौतमी बालश्री के नासिक अभिलेख में मिलता है।

इस अभिलेख में उसे शक, यवन और पहलव शक्तियों का दमन करने वाला बताया गया है। उसने पश्चिमी क्षत्रप शासक नहपान की शक्ति को पराजित किया और पश्चिमी दक्कन में सातवाहन प्रभाव को पुनर्स्थापित किया।

गौतमीपुत्र शातकर्णि की प्रमुख उपलब्धियाँ—

- सातवाहन साम्राज्य की राजनीतिक शक्ति को पुनर्स्थापित करना।
- शक क्षत्रप नहपान को पराजित करना।

- पश्चिमी दक्कन के व्यापारिक क्षेत्रों पर प्रभाव स्थापित करना।
- वैदिक और ब्राह्मण धार्मिक परंपराओं को संरक्षण देना।
- राजकीय प्रतिष्ठा तथा साम्राज्य की एकता को मजबूत करना।

(घ) वशिष्ठीपुत्र पुलुमावी

गौतमीपुत्र शातकर्णि के बाद वशिष्ठीपुत्र पुलुमावी शासक बना। उसके शासनकाल में सातवाहन सत्ता दक्कन और पूर्वी क्षेत्रों में प्रभावशाली बनी रही। अमरावती क्षेत्र के विकास से भी इस काल की सांस्कृतिक गतिविधियों का संबंध जोड़ा जाता है।

(ङ) यज्ञश्री शातकर्णि

यज्ञश्री शातकर्णि सातवाहन वंश का अंतिम प्रमुख शक्तिशाली शासक माना जाता है। उसके सिक्कों पर जहाज का चिह्न मिलता है, जो समुद्री व्यापार के महत्त्व का संकेत देता है। उसके बाद सातवाहन सत्ता कमजोर होने लगी और विभिन्न क्षेत्रीय शक्तियाँ उभरने लगीं।

3.3 सातवाहन प्रशासनिक व्यवस्था

सातवाहन प्रशासन राजतंत्रात्मक था, लेकिन इसमें स्थानीय प्रशासनिक इकाइयों और सामंतों की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण थी।

(क) राजा

राजा राज्य का सर्वोच्च अधिकारी था। वह सेना, प्रशासन, न्याय और राजस्व का प्रमुख नियंत्रक था। सातवाहन शासकों ने अपने नाम के साथ मातृनाम का प्रयोग किया, जैसे गौतमीपुत्र शातकर्णि और वशिष्ठीपुत्र पुलुमावी। यह परंपरा तत्कालीन सामाजिक और राजकीय पहचान का महत्त्वपूर्ण संकेत है।

(ख) प्रशासनिक अधिकारी

सातवाहन अभिलेखों में विभिन्न अधिकारियों का उल्लेख मिलता है। इनमें अमात्य, महामात्र, महाभोज, महारथी और अन्य पदाधिकारी शामिल थे। इनकी भूमिका प्रशासन, राजस्व संग्रह, सैन्य संगठन और स्थानीय शासन से संबंधित थी।

(ग) प्रशासनिक इकाइयाँ

राज्य को विभिन्न प्रशासनिक इकाइयों में विभाजित किया गया था। अभिलेखों में आहार जैसी प्रशासनिक इकाइयों का उल्लेख मिलता है। स्थानीय स्तर पर ग्राम और नगर प्रशासन की व्यवस्था थी।

(घ) सामंत व्यवस्था

सातवाहन शासन में महारथी, महाभोज और अन्य स्थानीय शक्तिशाली परिवारों का प्रभाव था। ये शासक के अधीन रहकर स्थानीय क्षेत्रों का प्रशासन करते थे। समय के साथ इनकी स्वायत्तता बढ़ने से केंद्रीय सत्ता कमजोर भी हुई।

(ङ) सैन्य व्यवस्था

सातवाहनों की सेना में पैदल सैनिक, घुड़सवार, हाथी और रथ शामिल थे। पश्चिमी क्षत्रपों के साथ संघर्षों में सैन्य शक्ति की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी।

(च) भूमि दान

सातवाहन अभिलेखों में बौद्ध भिक्षुओं और धार्मिक संस्थाओं को भूमि तथा गाँव दान देने के उल्लेख मिलते हैं। इससे धार्मिक संस्थाओं की आर्थिक स्थिति मजबूत हुई और प्रशासन में भूमि अनुदान का महत्त्व बढ़ा।

3.4 सातवाहनकालीन अर्थव्यवस्था

सातवाहन काल दक्कन के आर्थिक इतिहास में अत्यंत महत्त्वपूर्ण था। कृषि, व्यापार, शिल्प और समुद्री गतिविधियों का व्यापक विकास हुआ।

(क) कृषि

कृषि अर्थव्यवस्था का प्रमुख आधार थी। दक्कन के पठारी क्षेत्रों, नदी घाटियों और तटीय मैदानों में कृषि उत्पादन होता था। धान, गेहूँ, जौ, दालें, कपास और अन्य फसलों की खेती की जाती थी।

(ख) सिंचाई

कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए तालाबों, कुओं और जलाशयों का उपयोग किया जाता था। स्थानीय स्तर पर जल प्रबंधन की व्यवस्थाएँ विकसित थीं।

(ग) वस्त्र उद्योग

सातवाहन काल में कपास और वस्त्र उत्पादन विशेष रूप से विकसित था। दक्कन क्षेत्र के वस्त्रों का विदेशी बाजारों में भी महत्त्व था।

(घ) धातु उद्योग और शिल्प

लोहे, ताँबे, सीसे और अन्य धातुओं से उपकरण, हथियार, आभूषण और उपयोगी वस्तुएँ बनाई जाती थीं। मिट्टी के बर्तन, मनके, हाथीदाँत की वस्तुएँ और पत्थर की मूर्तियाँ भी तैयार की जाती थीं।

(ङ) आंतरिक व्यापार

सातवाहन साम्राज्य ने उत्तर भारत और दक्षिण भारत के बीच व्यापारिक मार्गों को जोड़ने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। प्रतिष्ठान (पैठन), तगर, नासिक, जुन्नर, अमरावती और अन्य नगर व्यापारिक केंद्र थे।

(च) समुद्री व्यापार

सातवाहन काल में पश्चिमी तट के बंदरगाहों से पश्चिम एशिया और रोमन साम्राज्य के साथ व्यापार होता था। पूर्वी तट से भी समुद्री व्यापारिक संपर्क विकसित हुए।

(छ) रोमन व्यापार

रोमन साम्राज्य के साथ भारत का व्यापार इस काल में विशेष रूप से बढ़ा। भारत से मसाले, वस्त्र, कीमती पत्थर, हाथीदाँत और अन्य वस्तुओं का निर्यात होता था। बदले में सोने-चाँदी के सिक्के, मदिरा, काँच के पात्र और अन्य वस्तुएँ आती थीं।

(ज) सिक्के

सातवाहन शासकों ने सीसे, ताँबे, चाँदी और अन्य धातुओं के सिक्के जारी किए। कुछ सिक्कों पर जहाज, हाथी, सिंह और अन्य प्रतीक मिलते हैं। सिक्कों का प्रचलन व्यापार और आर्थिक संगठन के विकास को दर्शाता है।

(झ) श्रेणियाँ और व्यापारिक संगठन

व्यापारी और शिल्पकार विभिन्न श्रेणियों में संगठित थे। ये श्रेणियाँ उत्पादन, व्यापार, ऋण और धार्मिक दान में सक्रिय भूमिका निभाती थीं। बौद्ध गुफाओं में व्यापारी, श्रेष्ठी और शिल्पकारों द्वारा दिए गए दान के अभिलेख इस आर्थिक सक्रियता के प्रमाण हैं।

3.5 सातवाहनकालीन सामाजिक स्थिति

सातवाहन समाज विविधतापूर्ण था। इसमें कृषक, व्यापारी, शिल्पकार, सैनिक, ब्राह्मण, बौद्ध भिक्षु और अन्य समुदाय शामिल थे।

(क) वर्ण और जाति व्यवस्था

सातवाहन काल में वर्ण व्यवस्था का प्रभाव दिखाई देता है। गौतमीपुत्र शातकर्णि के नासिक अभिलेख में वर्ण व्यवस्था की मर्यादा की रक्षा करने वाले शासक के रूप में उसका उल्लेख मिलता है। इससे ब्राह्मण धर्म और सामाजिक वर्ण-व्यवस्था के महत्त्व का पता चलता है।

(ख) मातृनाम की परंपरा

सातवाहन शासकों के नामों में मातृनाम का प्रयोग एक विशिष्ट विशेषता थी। उदाहरण के लिए गौतमीपुत्र और वशिष्ठीपुत्र। इससे मातृवंशीय पहचान और राजपरिवार की महिलाओं के सम्मान का संकेत मिलता

है। हालांकि केवल मातृनाम के आधार पर सातवाहन समाज को पूर्णतः मातृसत्तात्मक नहीं कहा जा सकता।

(ग) महिलाओं की स्थिति

सातवाहन काल में राजपरिवार की महिलाओं की राजनीतिक और धार्मिक भूमिका महत्त्वपूर्ण थी। नागनिका का नानाघाट अभिलेख इसका प्रमुख उदाहरण है। गौतमी बालश्री ने अपने पुत्र गौतमीपुत्र शातकर्णि की उपलब्धियों का अभिलेख स्थापित कराया। इससे राजकीय गतिविधियों में महिलाओं की सक्रिय भूमिका का पता चलता है।

(घ) व्यापारिक समुदाय

व्यापारी, श्रेष्ठी, सार्थवाह और शिल्पकार समाज के महत्त्वपूर्ण वर्ग थे। ये आर्थिक गतिविधियों के साथ-साथ धार्मिक संस्थाओं को दान भी देते थे।

(ङ) विदेशी समुदायों का समावेश

सातवाहन समाज में शक, यवन और अन्य विदेशी मूल के लोगों का संपर्क और समावेश दिखाई देता है। व्यापार और सांस्कृतिक आदान-प्रदान ने सामाजिक विविधता को बढ़ाया।

3.6 सातवाहनकालीन धार्मिक स्थिति

सातवाहन काल में ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म दोनों का विकास हुआ। धार्मिक जीवन में विविधता और सह-अस्तित्व की प्रवृत्ति दिखाई देती है।

(क) ब्राह्मण धर्म का संरक्षण

सातवाहन शासकों ने वैदिक यज्ञों को संरक्षण दिया। शातकर्णि प्रथम द्वारा अश्वमेध और राजसूय जैसे यज्ञों का आयोजन किया गया। गौतमीपुत्र शातकर्णि ने भी ब्राह्मण धार्मिक परंपराओं को संरक्षण दिया।

(ख) बौद्ध धर्म का विकास

सातवाहन काल में बौद्ध धर्म का दक्कन में व्यापक प्रसार हुआ। नासिक, कार्ले, भाजा, जुन्नर और कन्हेरी जैसी गुफाएँ बौद्ध धार्मिक गतिविधियों के महत्त्वपूर्ण केंद्र थीं।

(ग) महायान और हीनयान परंपराएँ

इस काल में बौद्ध धर्म की विभिन्न परंपराएँ विद्यमान थीं। प्रारम्भिक बौद्ध कला में बुद्ध का प्रतीकात्मक चित्रण मिलता है, जबकि बाद में बुद्ध की मानवाकार प्रतिमाओं का विकास हुआ।

(घ) धार्मिक सहिष्णुता

सातवाहन शासकों और उनके परिवारों ने विभिन्न धार्मिक परंपराओं को दान दिया। बौद्ध गुफाओं के अभिलेखों में राजपरिवार के साथ-साथ व्यापारियों और स्थानीय समुदायों के दान का भी उल्लेख मिलता है।

3.7 सातवाहनकालीन कला एवं स्थापत्य

सातवाहन काल भारतीय कला और स्थापत्य के विकास में अत्यंत महत्त्वपूर्ण था।

(क) अमरावती कला

अमरावती कला शैली का विकास कृष्णा नदी के क्षेत्र में हुआ। इसकी विशेषता सूक्ष्म नक्काशी, गतिशील आकृतियाँ, कथात्मक दृश्य और सुंदर मानव प्रतिमाएँ हैं। अमरावती स्तूप की वेदिकाओं और पट्टिकाओं पर बुद्ध के जीवन तथा जातक कथाओं का चित्रण मिलता है।

(ख) नासिक गुफाएँ

नासिक की बौद्ध गुफाएँ सातवाहन कालीन स्थापत्य और धार्मिक जीवन का महत्त्वपूर्ण प्रमाण हैं। यहाँ चैत्य और विहार दोनों प्रकार की संरचनाएँ मिलती हैं।

(ग) कार्ले चैत्य

कार्ले का चैत्यगृह पश्चिमी भारत की शैलकृत स्थापत्य कला का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसके विशाल स्तंभ, घोड़े की नाल के आकार का प्रवेशद्वार और आंतरिक संरचना विशेष उल्लेखनीय हैं।

(घ) भाजा और कन्हेरी गुफाएँ

भाजा और कन्हेरी गुफाएँ बौद्ध धार्मिक स्थापत्य के विकास को प्रदर्शित करती हैं। इनका निर्माण और विस्तार विभिन्न कालों में हुआ, जिनमें मौर्योत्तर तथा सातवाहन काल की गतिविधियाँ भी शामिल हैं।

(ङ) मूर्तिकला

सातवाहनकालीन कला में बुद्ध के जीवन, जातक कथाओं, वृक्ष पूजा, स्तूप पूजा और लोकजीवन के दृश्य अंकित किए गए। मूर्तिकला में स्थानीय दक्कनी परंपराओं और बौद्ध प्रतीकों का समन्वय दिखाई देता है।

3.8 सातवाहनकालीन साहित्य और भाषा

सातवाहन काल में प्राकृत भाषा को विशेष महत्त्व मिला। राजकीय अभिलेखों में प्राकृत भाषा और ब्राह्मी लिपि का व्यापक उपयोग हुआ।

राजा हाल को *गाथासप्तशती* का संकलनकर्ता माना जाता है। यह महाराष्ट्री प्राकृत में रचित मुक्तक काव्य का महत्त्वपूर्ण संग्रह है। इसमें तत्कालीन समाज, प्रेम, प्रकृति और ग्रामीण जीवन का चित्रण मिलता है।

गुणाढ्य की *बृहत्कथा* भी परंपरागत रूप से सातवाहन युग से जोड़ी जाती है, हालांकि इसके मूल स्वरूप और काल-निर्धारण को लेकर विद्वानों में मतभेद हैं।

सातवाहन वंश का ऐतिहासिक महत्त्व

सातवाहनों ने दक्कन में राजनीतिक एकता स्थापित करने का प्रयास किया। उन्होंने उत्तर और दक्षिण भारत के बीच व्यापारिक संपर्कों को बढ़ाया तथा समुद्री व्यापार को प्रोत्साहन दिया। उनके शासनकाल में अमरावती कला, बौद्ध गुफा स्थापत्य, प्राकृत साहित्य और व्यापारिक श्रेणियों का विकास हुआ। इस प्रकार सातवाहन वंश मौर्योत्तर भारत के आर्थिक और सांस्कृतिक इतिहास में विशेष स्थान रखता है।

4. कुषाण वंश: राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं प्रशासनिक स्थिति

4.1 कुषाणों का उदय एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

कुषाण वंश मौर्योत्तर भारत का एक अत्यंत शक्तिशाली राजवंश था। इसका उदय मध्य एशिया में युएझी (Yuezhi) नामक जनसमूह से संबंधित माना जाता है। चीनी स्रोतों के अनुसार युएझी जनसमूह मध्य एशिया से पश्चिम की ओर विस्थापित हुआ और बाद में इसकी एक शाखा ने बैक्ट्रिया तथा अफगानिस्तान के क्षेत्रों में अपनी सत्ता स्थापित की। इसी शाखा से कुषाण शक्ति का विकास हुआ।

कुषाणों ने उत्तर-पश्चिम भारत, अफगानिस्तान, मध्य एशिया और उत्तर भारत के बड़े भूभाग को अपने साम्राज्य में सम्मिलित किया। उनका साम्राज्य भारत को मध्य एशिया तथा पश्चिमी संसार से जोड़ने वाला महत्त्वपूर्ण राजनीतिक और आर्थिक सेतु बना।

कुषाण इतिहास के प्रमुख स्रोत निम्नलिखित हैं—

1. चीनी इतिहास ग्रंथ, विशेषकर *हौ हान्शु* (Hou Hanshu)।
2. कुषाण शासकों के सिक्के।
3. अभिलेख, जैसे मथुरा, सारनाथ और पेशावर क्षेत्र से प्राप्त अभिलेख।
4. पुरातात्त्विक अवशेष और स्थापत्य सामग्री।
5. बौद्ध साहित्य तथा विदेशी यात्रियों के विवरण।
6. गांधार और मथुरा की मूर्तिकला।

कुषाण वंश के प्रमुख शासक निम्नलिखित थे—

- कुजुल कडफिसेस
- विम कडफिसेस

- कनिष्क
- हुविष्क
- वासुदेव प्रथम

इनमें कनिष्क कुषाण वंश का सबसे प्रसिद्ध और प्रभावशाली शासक माना जाता है।

4.2 कुषाणों की राजनीतिक स्थिति

(क) कुजुल कडफिसेस

कुजुल कडफिसेस को कुषाण साम्राज्य का प्रारम्भिक संगठक माना जाता है। उसने युएझी की विभिन्न शाखाओं को संगठित करके एक शक्तिशाली राजनीतिक सत्ता स्थापित की। उसने बैक्ट्रिया और अफगानिस्तान के क्षेत्रों में अपना प्रभाव बढ़ाया तथा उत्तर-पश्चिम भारत की ओर विस्तार किया।

कुजुल कडफिसेस के सिक्कों पर यूनानी और अन्य विदेशी प्रभाव दिखाई देते हैं। इससे उस समय के सांस्कृतिक संपर्कों तथा मुद्रा प्रणाली की विविधता का पता चलता है।

(ख) विम कडफिसेस

विम कडफिसेस ने कुषाण साम्राज्य का विस्तार किया। उसके शासनकाल में उत्तर-पश्चिम भारत और मध्य एशिया के बीच राजनीतिक संपर्क मजबूत हुए। उसने बड़ी संख्या में स्वर्ण और ताँबे के सिक्के जारी किए।

विम कडफिसेस के स्वर्ण सिक्के कुषाण आर्थिक शक्ति और अंतरराष्ट्रीय व्यापार की प्रगति के महत्त्वपूर्ण प्रमाण हैं। उसके सिक्कों पर शिव तथा नंदी जैसे धार्मिक प्रतीक भी मिलते हैं। इससे कुषाण शासकों की धार्मिक विविधता और भारतीय धार्मिक परंपराओं के प्रति उनके संपर्क का पता चलता है।

(ग) कनिष्क: कुषाण साम्राज्य का महान शासक

कनिष्क कुषाण वंश का सर्वाधिक प्रसिद्ध शासक था। उसके शासनकाल की निश्चित तिथि को लेकर इतिहासकारों में मतभेद रहे हैं, लेकिन उसका शासन सामान्यतः दूसरी शताब्दी ईस्वी के प्रारम्भिक भाग से संबंधित माना जाता है। कुछ विद्वान 78 ईस्वी को उसके राज्यारोहण से जोड़ते रहे हैं, किंतु इस तिथि को लेकर सर्वसम्मति नहीं है।

कनिष्क के शासनकाल में कुषाण साम्राज्य का विस्तार अत्यधिक व्यापक हुआ। इसके अंतर्गत अफगानिस्तान, गांधार, कश्मीर, पंजाब, मथुरा तथा उत्तर भारत के अनेक क्षेत्र शामिल थे। साम्राज्य का प्रभाव मध्य एशिया तक फैला हुआ था।

कनिष्क की प्रमुख राजनीतिक उपलब्धियाँ

1. साम्राज्य का विस्तार: कनिष्क ने कुषाण सत्ता को व्यापक राजनीतिक शक्ति में परिवर्तित किया। उसके साम्राज्य ने मध्य एशिया से उत्तर भारत तक विस्तृत व्यापारिक और राजनीतिक मार्गों पर प्रभाव स्थापित किया।

2. पुरुषपुर को राजधानी बनाना: कनिष्क की प्रमुख राजधानी पुरुषपुर थी, जिसे वर्तमान पेशावर से संबंधित माना जाता है। मथुरा भी कुषाण साम्राज्य का एक महत्त्वपूर्ण प्रशासनिक और सांस्कृतिक केंद्र था।

3. कश्मीर पर प्रभाव: कनिष्क का कश्मीर से विशेष संबंध माना जाता है। बौद्ध परंपराओं में उसके द्वारा कश्मीर में बौद्ध परिषद आयोजित कराने का उल्लेख मिलता है।

4. विदेशी संपर्क: कनिष्क के साम्राज्य के माध्यम से भारत का मध्य एशिया, चीन, ईरान और रोमन संसार से संपर्क बढ़ा। इस संपर्क ने व्यापार तथा सांस्कृतिक आदान-प्रदान को गति प्रदान की।

5. राजनीतिक संगठन: कनिष्क ने विभिन्न जातीय, भाषायी और धार्मिक समूहों को एक विशाल साम्राज्य के अंतर्गत संगठित किया। उसकी शासन व्यवस्था में क्षेत्रीय विविधता को स्थान मिला।

(घ) चतुर्थ बौद्ध संगीति

बौद्ध परंपरा के अनुसार कनिष्क के संरक्षण में कश्मीर के कुंडलवन में चतुर्थ बौद्ध संगीति आयोजित हुई थी। इसका संबंध महायान बौद्ध परंपरा के विकास से जोड़ा जाता है। इस संगीति में बौद्ध दर्शन, विशेषकर सर्वास्तिवाद परंपरा के ग्रंथों और व्याख्याओं के संकलन तथा संपादन का उल्लेख मिलता है।

हालांकि चतुर्थ बौद्ध संगीति के स्वरूप, स्थान और ऐतिहासिक विवरणों के विषय में विभिन्न बौद्ध परंपराओं में अंतर पाया जाता है। इसलिए इसे समझते समय परंपरागत विवरणों और ऐतिहासिक प्रमाणों में अंतर करना आवश्यक है।

(ङ) हुविष्क

कनिष्क के बाद हुविष्क ने शासन किया। उसके शासनकाल में कुषाण साम्राज्य की शक्ति बनी रही। उसके सिक्कों पर अनेक देवी-देवताओं की आकृतियाँ मिलती हैं। इससे कुषाण धार्मिक जीवन की विविधता स्पष्ट होती है।

(च) वासुदेव प्रथम

वासुदेव प्रथम कुषाण वंश का एक प्रमुख शासक था। उसके नाम और सिक्कों पर भारतीय धार्मिक प्रभाव अधिक स्पष्ट दिखाई देता है। उसके शासनकाल में कुषाण सत्ता का भारतीयकरण और अधिक गहरा हुआ। बाद के समय में कुषाण साम्राज्य की शक्ति धीरे-धीरे कमजोर होने लगी।

4.3 कुषाणकालीन प्रशासनिक व्यवस्था

कुषाण प्रशासन विशाल और बहुक्षेत्रीय साम्राज्य की आवश्यकताओं के अनुरूप विकसित हुआ था। इसमें केंद्रीय राजसत्ता के साथ प्रांतीय अधिकारियों तथा स्थानीय शासकों की भूमिका महत्त्वपूर्ण थी।

(क) राजा की स्थिति

राजा प्रशासन, सेना, न्याय और राजस्व का सर्वोच्च अधिकारी था। कुषाण शासकों ने अपनी राजकीय प्रतिष्ठा को प्रदर्शित करने के लिए देवतुल्य उपाधियों का प्रयोग किया। कनिष्क के अभिलेखों और सिक्कों में राजकीय सत्ता की विशिष्ट अभिव्यक्ति दिखाई देती है।

(ख) देवपुत्र की उपाधि

कुषाण शासकों द्वारा 'देवपुत्र' जैसी उपाधियों का प्रयोग किया गया। यह उपाधि राजकीय सत्ता को धार्मिक और दैवीय प्रतिष्ठा प्रदान करती थी। इससे राजा की सर्वोच्च स्थिति तथा साम्राज्यवादी विचारधारा का पता चलता है।

(ग) प्रांतीय प्रशासन

विशाल साम्राज्य को नियंत्रित करने के लिए विभिन्न प्रांतों और प्रशासनिक क्षेत्रों में विभाजित किया गया था। प्रांतीय प्रशासन के लिए अधिकारियों की नियुक्ति होती थी। कुछ क्षेत्रों में स्थानीय शासकों और सामंतों को भी प्रशासनिक अधिकार प्राप्त थे।

(घ) क्षत्रप और महाक्षत्रप

कुषाणकालीन प्रशासन में क्षत्रप और महाक्षत्रप जैसे पदों का प्रयोग मिलता है। इन पदाधिकारियों को प्रांतीय शासन और स्थानीय प्रशासन की जिम्मेदारी दी जाती थी। यह व्यवस्था पश्चिमी और उत्तर-पश्चिमी भारत की राजनीतिक परंपराओं से भी प्रभावित थी।

(ङ) सैन्य व्यवस्था

कुषाण साम्राज्य की शक्ति का प्रमुख आधार उसकी सेना थी। सेना में घुड़सवारों का विशेष महत्त्व था। मध्य एशियाई युद्ध परंपराओं से प्रभावित कुषाण सैन्य संगठन में घुड़सवार सेना और धनुर्धारियों की भूमिका महत्त्वपूर्ण थी।

(च) मुद्रा और राजस्व व्यवस्था

कुषाण शासकों ने बड़ी संख्या में स्वर्ण, ताँबे और अन्य धातुओं के सिक्के जारी किए। इससे राजस्व व्यवस्था, व्यापार और आर्थिक संगठन को मजबूती मिली। कृषि कर, व्यापारिक शुल्क तथा अन्य राजस्व स्रोत राज्य की आय के प्रमुख साधन थे।

4.4 कुषाणकालीन अर्थव्यवस्था

कुषाण काल भारतीय आर्थिक इतिहास का अत्यंत समृद्ध काल था। इस समय भारत का मध्य एशिया, चीन, पश्चिम एशिया और रोमन साम्राज्य से व्यापारिक संपर्क व्यापक हुआ। कुषाण साम्राज्य का भौगोलिक स्थान इस आर्थिक विस्तार का प्रमुख कारण था।

(क) कृषि

कृषि आर्थिक जीवन का आधार थी। गंगा-यमुना के मैदान, पंजाब, गांधार और अन्य उपजाऊ क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार की फसलें उगाई जाती थीं। कृषि उत्पादन से राज्य को नियमित राजस्व प्राप्त होता था।

(ख) पशुपालन

पशुपालन भी आर्थिक जीवन का महत्त्वपूर्ण हिस्सा था। घोड़े, बैल, भेड़ और ऊँट का उपयोग कृषि, परिवहन तथा सैन्य गतिविधियों में होता था। मध्य एशियाई क्षेत्रों में पशुपालन की विशेष भूमिका थी।

(ग) स्वर्ण मुद्रा का व्यापक प्रचलन

कुषाण काल की सबसे महत्त्वपूर्ण आर्थिक विशेषताओं में स्वर्ण सिक्कों का व्यापक प्रचलन शामिल है। विम कडफिसेस और कनिष्क ने बड़ी संख्या में स्वर्ण मुद्राएँ जारी कीं। इन सिक्कों पर राजा की आकृति, विभिन्न देवताओं के चित्र तथा अभिलेख अंकित होते थे।

स्वर्ण सिक्कों का प्रचलन साम्राज्य की आर्थिक शक्ति और व्यापारिक गतिविधियों का संकेत देता है। हालांकि यह ध्यान रखना चाहिए कि सिक्कों की संख्या और धातु की उपलब्धता को केवल सामान्य जनता की समृद्धि का प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं माना जा सकता।

(घ) रेशम मार्ग और अंतरराष्ट्रीय व्यापार

कुषाण साम्राज्य का सबसे बड़ा आर्थिक योगदान भारत को मध्य एशिया और चीन से जोड़ने वाले व्यापारिक मार्गों पर नियंत्रण तथा संरक्षण था। इन मार्गों को सामान्यतः रेशम मार्ग (Silk Route) कहा जाता है।

इस मार्ग से चीन का रेशम, मध्य एशिया के घोड़े, भारतीय वस्त्र, मसाले, कीमती पत्थर और अन्य वस्तुएँ विभिन्न क्षेत्रों तक पहुँचती थीं।

(ङ) रोमन साम्राज्य के साथ व्यापार

कुषाण काल में भारत और रोमन साम्राज्य के बीच व्यापारिक संपर्क जारी रहे। भारत से मसाले, सुगंधित पदार्थ, रत्न, वस्त्र और अन्य विलासिता की वस्तुएँ निर्यात की जाती थीं। बदले में सोना, चाँदी, काँच की वस्तुएँ और अन्य विदेशी उत्पाद भारत आते थे।

(च) नगरों का विकास

कुषाण काल में पुरुषपुर, तक्षशिला, मथुरा, कापिशी और अन्य नगर महत्त्वपूर्ण व्यापारिक और सांस्कृतिक केंद्र बने। ये नगर व्यापारिक मार्गों, शिल्प उत्पादन और प्रशासनिक गतिविधियों से जुड़े हुए थे।

(छ) शिल्प और उद्योग

इस काल में धातु उद्योग, वस्त्र निर्माण, आभूषण निर्माण, मूर्तिकला, मिट्टी के बर्तन और अन्य शिल्पों का विकास हुआ। गांधार और मथुरा के मूर्तिकारों ने धार्मिक कला को नई ऊँचाइयों तक पहुँचाया।

(ज) व्यापारी और श्रेणियाँ

व्यापारी और शिल्पकार विभिन्न श्रेणियों में संगठित थे। वे व्यापारिक गतिविधियों के साथ-साथ धार्मिक संस्थाओं को दान भी देते थे। बौद्ध विहारों और स्तूपों के निर्माण में व्यापारी समुदायों का महत्त्वपूर्ण योगदान था।

4.5 कुषाणकालीन सामाजिक स्थिति

कुषाण साम्राज्य अनेक जातीय, भाषायी और सांस्कृतिक समूहों का संगम था। इसमें भारतीय, ईरानी, यूनानी और मध्य एशियाई परंपराओं का संपर्क दिखाई देता है।

(क) सामाजिक विविधता

कुषाण साम्राज्य में विभिन्न समुदायों के लोग निवास करते थे। उत्तर-पश्चिम भारत में यूनानी, शक, पार्थियन और मध्य एशियाई समूहों का प्रभाव था। स्थानीय भारतीय समुदायों के साथ इनके संपर्क से सामाजिक और सांस्कृतिक विविधता बढ़ी।

(ख) वर्ण और जाति व्यवस्था

भारतीय क्षेत्रों में ब्राह्मण धर्म और वर्ण व्यवस्था का प्रभाव बना रहा। विभिन्न विदेशी समुदाय धीरे-धीरे भारतीय सामाजिक व्यवस्था में समाहित हुए। इस प्रक्रिया में विवाह, व्यापार, सैनिक सेवा और धार्मिक संपर्कों की भूमिका रही।

(ग) महिलाओं की स्थिति

कुषाणकालीन समाज में महिलाओं की स्थिति के विषय में सीमित जानकारी उपलब्ध है। अभिलेखों और मूर्तिकला से महिलाओं की धार्मिक दान गतिविधियों और सामाजिक उपस्थिति के संकेत मिलते हैं। बौद्ध संस्थाओं को दान देने वाली महिलाओं का उल्लेख इस काल के सामाजिक जीवन की महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

(घ) नगर जीवन

कुषाण काल में नगरों का विकास हुआ। नगरों में व्यापारी, शिल्पकार, अधिकारी, सैनिक, धार्मिक व्यक्ति और विभिन्न व्यवसायों से जुड़े लोग रहते थे। इससे सामाजिक जीवन में विविधता और आर्थिक गतिशीलता बढ़ी।

(ङ) विदेशी समुदायों का भारतीयकरण

कुषाण शासकों और उनके अधीन रहने वाले विदेशी समुदायों ने भारतीय धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परंपराओं को अपनाया। सिक्कों पर भारतीय देवी-देवताओं का चित्रण इस सांस्कृतिक समन्वय का महत्त्वपूर्ण प्रमाण है।

4.6 कुषाणकालीन धार्मिक स्थिति

कुषाण काल धार्मिक सहिष्णुता, समन्वय और विविधता का महत्त्वपूर्ण युग था। इस काल में बौद्ध धर्म, ब्राह्मण धर्म, ईरानी धार्मिक परंपराएँ और यूनानी देवताओं की पूजा साथ-साथ प्रचलित थीं।

(क) बौद्ध धर्म का संरक्षण

कनिष्क को बौद्ध धर्म का महान संरक्षक माना जाता है। उसने बौद्ध धर्म के विकास में योगदान दिया और बौद्ध संस्थाओं को संरक्षण प्रदान किया। उसके शासनकाल में बौद्ध धर्म का मध्य एशिया की ओर प्रसार भी तेज हुआ।

(ख) महायान बौद्ध धर्म का विकास

कुषाण काल में महायान बौद्ध धर्म के विकास को विशेष प्रोत्साहन मिला। महायान परंपरा में बोधिसत्त्व की अवधारणा और बुद्ध की दिव्य उपासना को विशेष महत्त्व दिया गया।

महायान के विकास के साथ बुद्ध की मानवाकार प्रतिमाओं का व्यापक प्रचलन बढ़ा। इस प्रक्रिया में गांधार और मथुरा कला का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा।

(ग) ब्राह्मण धर्म

कुषाण शासकों ने ब्राह्मण धर्म की विभिन्न परंपराओं को भी संरक्षण दिया। विम कडफिसेस के सिक्कों पर शिव और नंदी के प्रतीक मिलते हैं। इससे शैव धर्म के प्रति राजकीय संपर्क और धार्मिक समन्वय का संकेत मिलता है।

(घ) ईरानी और यूनानी धार्मिक प्रभाव

कुषाण सिक्कों पर ईरानी, यूनानी और भारतीय देवताओं के नाम तथा आकृतियाँ मिलती हैं। इससे स्पष्ट होता है कि कुषाण शासकों का साम्राज्य विभिन्न धार्मिक परंपराओं का संगम था।

(ङ) धार्मिक सहिष्णुता

कुषाण शासकों ने किसी एक धर्म को पूर्णतः राज्य की एकमात्र धार्मिक पहचान नहीं बनाया। उनके सिक्कों पर अनेक धार्मिक परंपराओं के देवताओं का अंकन धार्मिक विविधता और सांस्कृतिक समन्वय का प्रमाण है।

4.7 कुषाणकालीन कला एवं स्थापत्य

कुषाण काल भारतीय कला इतिहास में विशेष महत्त्व रखता है। इस काल में गांधार और मथुरा कला शैलियों का विकास हुआ। बुद्ध की मानवाकार प्रतिमाओं का व्यापक प्रचलन भी इसी युग की प्रमुख उपलब्धि माना जाता है।

(क) गांधार कला शैली

गांधार कला का विकास वर्तमान पाकिस्तान और अफगानिस्तान के कुछ क्षेत्रों में हुआ। इस कला पर यूनानी-रोमन, ईरानी और भारतीय परंपराओं का प्रभाव था।

गांधार कला की प्रमुख विशेषताएँ—

1. बुद्ध की मानवाकार प्रतिमाओं का निर्माण।
2. मूर्तियों में यूनानी-रोमन प्रभाव।
3. घुँघराले बाल और उभरी हुई नासिका।
4. वस्त्रों में गहरी सिलवटों का अंकन।
5. शरीर की मांसलता और शारीरिक अनुपात पर ध्यान।
6. बुद्ध के जीवन से संबंधित कथात्मक दृश्य।
7. धूसर शिस्ट पत्थर का व्यापक उपयोग।

गांधार कला में बुद्ध को प्रायः शांत, गंभीर और आध्यात्मिक व्यक्तित्व के रूप में प्रदर्शित किया गया है।

(ख) मथुरा कला शैली

मथुरा कला का विकास उत्तर भारत में हुआ। यह भारतीय परंपराओं पर आधारित थी और इसमें लाल बलुआ पत्थर का व्यापक उपयोग किया गया।

मथुरा कला की प्रमुख विशेषताएँ—

1. बुद्ध की प्रभावशाली मानवाकार प्रतिमाएँ।
2. यक्ष परंपरा से प्रभावित विशाल और सशक्त शरीर।

सुरेश मोहन नौटियाल

3. वस्त्रों का अपेक्षाकृत हल्का और पारदर्शी अंकन।
4. चेहरे पर आध्यात्मिक शांति और प्रसन्नता।
5. बुद्ध के साथ जैन तीर्थंकरों और ब्राह्मण देवी-देवताओं की प्रतिमाओं का निर्माण।
6. लाल बलुआ पत्थर का प्रयोग।
7. भारतीय धार्मिक और सांस्कृतिक प्रतीकों की प्रधानता।

(ग) गांधार और मथुरा कला का तुलनात्मक महत्त्व

गांधार कला में विदेशी, विशेषकर यूनानी-रोमन प्रभाव अधिक दिखाई देता है, जबकि मथुरा कला भारतीय परंपराओं पर आधारित थी। दोनों शैलियों ने बुद्ध की मानवाकार प्रतिमा के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

(घ) बौद्ध स्थापत्य

कुषाण काल में स्तूप, विहार और चैत्य स्थापत्य का विकास हुआ। पेशावर के निकट शाह-जी-की-ढेरी से संबंधित कनिष्क स्तूप बौद्ध स्थापत्य का प्रसिद्ध उदाहरण है। इसके अतिरिक्त मथुरा और गांधार क्षेत्र में अनेक बौद्ध धार्मिक केंद्र विकसित हुए।

(ङ) मूर्तिकला का विकास

कुषाण काल में बुद्ध, बोधिसत्त्व, शिव, विष्णु, सूर्य और अन्य देवी-देवताओं की प्रतिमाओं का निर्माण हुआ। इस काल की मूर्तिकला ने आगे चलकर गुप्तकालीन कला के विकास की आधारभूमि तैयार की।

4.8 कुषाणकालीन साहित्य और भाषा

कुषाण काल में विभिन्न भाषाओं का प्रयोग होता था। उत्तर-पश्चिमी क्षेत्रों में गांधारी प्राकृत, खरोष्ठी लिपि और बैक्ट्रियन भाषा का उपयोग मिलता है। भारतीय क्षेत्रों में प्राकृत और ब्राह्मी लिपि का प्रचलन था। संस्कृत का महत्त्व भी धीरे-धीरे बढ़ रहा था।

बौद्ध साहित्य के विकास में अश्वघोष का विशेष स्थान है। उन्हें कनिष्क का समकालीन माना जाता है, यद्यपि उनके जीवनकाल और कनिष्क से संबंध की तिथि के विषय में पूर्ण निश्चितता नहीं है।

अश्वघोष की प्रमुख रचनाएँ हैं—

- *बुद्धचरित*– बुद्ध के जीवन पर आधारित महाकाव्य।
- *सौन्दरानन्द*– बौद्ध विचारों और आध्यात्मिक जीवन पर आधारित काव्य।
- *शारिपुत्रप्रकरण*– नाट्य परंपरा से संबंधित रचना।

कुषाण वंश का ऐतिहासिक महत्त्व

कुषाणों ने भारत को मध्य एशिया और पश्चिमी संसार से जोड़ने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। उनके शासनकाल में अंतरराष्ट्रीय व्यापार, स्वर्ण मुद्रा, बौद्ध धर्म का प्रसार, महायान परंपरा, गांधार और मथुरा कला तथा नगरों का विकास हुआ। कुषाण साम्राज्य ने भारतीय संस्कृति को मध्य एशिया और आगे चीन तक पहुँचाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

5. मौर्योत्तर युग की राजनीतिक व्यवस्था का तुलनात्मक अध्ययन

मौर्योत्तर युग में शुंग, सातवाहन और कुषाण तीनों राजवंशों ने अलग-अलग भौगोलिक क्षेत्रों में शासन किया। इनके राजनीतिक संगठन में कुछ समानताएँ थीं, लेकिन क्षेत्रीय परिस्थितियों के कारण अंतर भी दिखाई देते हैं।

आधार	**शुंग वंश**	**सातवाहन वंश**	**कुषाण वंश**
उदय	लगभग 185 ईसा पूर्व	लगभग पहली शताब्दी ईसा पूर्व से पूर्ववर्ती आधार	मध्य एशिया से युएझी समूह के उदय के बाद
प्रमुख क्षेत्र	मध्य गंगा घाटी और मध्य भारत	दक्कन और पश्चिमी-दक्षिणी भारत	उत्तर-पश्चिम भारत, गांधार, मथुरा और मध्य एशिया
संस्थापक/प्रारम्भिक शासक	पुष्यमित्र शुंग	सिमुक	कुजुल कडफिसेस
प्रमुख शासक	पुष्यमित्र, अग्निमित्र	गौतमीपुत्र शातकर्णि, यज्ञश्री शातकर्णि	कनिष्क, हुविष्क, वासुदेव
राजधानी/प्रमुख केंद्र	पाटलिपुत्र, विदिशा	प्रतिष्ठान, अन्य क्षेत्रीय केंद्र	पुरुषपुर, मथुरा
शासन का स्वरूप	राजतंत्र	राजतंत्र एवं स्थानीय सामंतों की भूमिका	साम्राज्यवादी राजतंत्र
धार्मिक संरक्षण	वैदिक परंपरा, साथ ही बौद्ध संस्थाओं की गतिविधियाँ	ब्राह्मण और बौद्ध परंपराएँ	बौद्ध, ब्राह्मण, ईरानी और यूनानी परंपराएँ

प्रमुख कला	भरहुत और साँची का विस्तार	अमरावती तथा पश्चिमी भारत की गुफाएँ	गांधार और मथुरा कला
प्रमुख आर्थिक आधार	कृषि, शिल्प और क्षेत्रीय व्यापार	कृषि, आंतरिक और समुद्री व्यापार	अंतरराष्ट्रीय व्यापार और कृषि

6. मौर्योत्तर युग की अर्थव्यवस्था का समग्र विश्लेषण

मौर्योत्तर युग भारतीय आर्थिक इतिहास में परिवर्तन और विस्तार का काल था। मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद राजनीतिक सत्ता विभिन्न क्षेत्रों में विभाजित हो गई, लेकिन इससे आर्थिक गतिविधियाँ बाधित नहीं हुईं। अनेक क्षेत्रीय राज्यों ने कृषि, शिल्प, व्यापार और नगरों के विकास को प्रोत्साहित किया।

6.1 कृषि का विस्तार

इस काल में कृषि अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार बनी रही। गंगा घाटी, दक्कन और उत्तर-पश्चिम भारत में कृषि उत्पादन का विस्तार हुआ। जंगलों को साफ करके नए कृषि क्षेत्र विकसित किए गए। कृषि के विस्तार के साथ ग्रामीण बस्तियों और स्थानीय बाजारों का विकास हुआ।

6.2 भूमि अनुदान की परंपरा

मौर्योत्तर काल में धार्मिक संस्थाओं और व्यक्तियों को भूमि दान देने की परंपरा का विस्तार हुआ। सातवाहन अभिलेखों में बौद्ध भिक्षुओं को भूमि और गाँव दान देने के उदाहरण मिलते हैं। भूमि अनुदान ने धार्मिक संस्थाओं को आर्थिक आधार प्रदान किया। आगे चलकर यह परंपरा प्रारम्भिक मध्यकालीन भारत की सामाजिक और राजनीतिक संरचना में महत्त्वपूर्ण हो गई।

6.3 शिल्प उद्योग का विकास

मौर्योत्तर युग में अनेक शिल्पों का विकास हुआ। इनमें प्रमुख थे—

- वस्त्र निर्माण
- धातु उद्योग
- आभूषण निर्माण
- मिट्टी के बर्तन
- हाथीदाँत की वस्तुएँ
- मनके और रत्नों का निर्माण

- पत्थर की मूर्तियाँ
- लकड़ी और हाथीदाँत पर नक्काशी

शिल्प उत्पादन का विकास नगरों और व्यापारिक केंद्रों की वृद्धि से जुड़ा था।

6.4 श्रेणी संगठन

इस काल में व्यापारी और शिल्पकार विभिन्न श्रेणियों में संगठित थे। श्रेणियाँ उत्पादन, गुणवत्ता, मूल्य निर्धारण, ऋण और व्यापारिक गतिविधियों का संचालन करती थीं। धार्मिक संस्थाओं को दान देने में भी इनकी भूमिका थी।

6.5 व्यापारिक मार्गों का विकास

मौर्योत्तर युग में स्थल और समुद्री व्यापार दोनों का विस्तार हुआ। उत्तर भारत से मध्य एशिया जाने वाले मार्गों के साथ-साथ दक्कन और पश्चिमी तट के व्यापारिक मार्ग महत्त्वपूर्ण थे।

प्रमुख व्यापारिक केंद्रों में तक्षशिला, मथुरा, उज्जयिनी, प्रतिष्ठान, तगर, नासिक, भरुकच्छ और अन्य नगर शामिल थे।

6.6 विदेशी व्यापार

भारत का रोमन साम्राज्य, मध्य एशिया और पश्चिम एशिया के साथ व्यापार बढ़ा। भारत से मसाले, वस्त्र, रत्न, हाथीदाँत और सुगंधित पदार्थ निर्यात किए जाते थे। विदेशी सोने और चाँदी के सिक्के भारत में आते थे।

6.7 मुद्रा अर्थव्यवस्था

मौर्योत्तर काल में विभिन्न राजवंशों ने अपने सिक्के जारी किए। इंडो-ग्रीक, शक, सातवाहन और कुषाण शासकों की मुद्राएँ राजनीतिक इतिहास के साथ-साथ आर्थिक इतिहास के भी महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं।

कुषाणों के स्वर्ण सिक्के और सातवाहनों के सीसे तथा ताँबे के सिक्के क्षेत्रीय आर्थिक परिस्थितियों और मुद्रा प्रचलन की विविधता को प्रदर्शित करते हैं।

7. मौर्योत्तर युग की सामाजिक स्थिति

मौर्योत्तर काल का समाज विविधताओं से परिपूर्ण था। इस समय वर्ण व्यवस्था, जातीय समूह, व्यापारिक समुदाय, शिल्पकार, कृषक और धार्मिक संस्थाएँ सामाजिक जीवन के प्रमुख अंग थे।

7.1 वर्ण व्यवस्था

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों का उल्लेख मिलता है। शुंग और सातवाहन शासकों द्वारा वैदिक यज्ञों को संरक्षण देने से ब्राह्मण धार्मिक परंपरा की प्रतिष्ठा बढ़ी। गौतमीपुत्र शातकर्णि के अभिलेख में वर्ण व्यवस्था की रक्षा का उल्लेख मिलता है।

7.2 जातियों और व्यवसायों की विविधता

व्यापार, शिल्प और कृषि के विस्तार के कारण समाज में अनेक व्यावसायिक समूह विकसित हुए। व्यापारी, श्रेष्ठी, सार्थवाह, कारीगर और विभिन्न शिल्पकार आर्थिक जीवन के महत्त्वपूर्ण अंग थे।

7.3 महिलाओं की स्थिति

मौर्योत्तर काल में महिलाओं की स्थिति सामाजिक वर्ग और क्षेत्र के अनुसार भिन्न थी। राजपरिवार की महिलाओं ने राजनीतिक, धार्मिक और दान संबंधी गतिविधियों में भाग लिया।

इस संदर्भ में नागनिका का नानाघाट अभिलेख तथा गौतमी बालश्री का नासिक अभिलेख विशेष महत्त्व रखते हैं। बौद्ध गुफाओं में महिलाओं द्वारा दिए गए दान के अभिलेख भी उनकी धार्मिक और आर्थिक भागीदारी का प्रमाण हैं।

7.4 विदेशी समुदायों का भारतीय समाज में समावेश

इंडो-ग्रीक, शक, पार्थियन और कुषाण समुदायों का भारतीय समाज से संपर्क बढ़ा। इन समुदायों ने धीरे-धीरे भारतीय धार्मिक और सांस्कृतिक परंपराओं को अपनाया। भारतीय समाज भी उनके माध्यम से नई कलात्मक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों से परिचित हुआ।

7.5 नगर जीवन

इस काल में नगरों का विकास हुआ। नगरों में व्यापारियों, शिल्पकारों, सैनिकों, अधिकारियों और धार्मिक व्यक्तियों की बड़ी भूमिका थी। नगरों में बाजार, कार्यशालाएँ, धार्मिक स्थल और आवासीय क्षेत्र विकसित हुए।

8. मौर्योत्तर युग की धार्मिक स्थिति

मौर्योत्तर काल में धार्मिक जीवन में विविधता और समन्वय दिखाई देता है। इस समय बौद्ध धर्म, जैन धर्म और ब्राह्मण धर्म की विभिन्न परंपराएँ विकसित हुईं।

8.1 ब्राह्मण धर्म का विकास

शुंग और सातवाहन शासकों ने वैदिक यज्ञों को संरक्षण दिया। अश्वमेध, राजसूय और अन्य यज्ञ राजकीय प्रतिष्ठा के साधन बने। इस काल में शैव और वैष्णव परंपराओं का भी विकास हुआ।

8.2 बौद्ध धर्म का प्रसार

बौद्ध धर्म को व्यापारियों, शिल्पकारों और कुछ शासकों का संरक्षण प्राप्त हुआ। सातवाहन और कुषाण क्षेत्रों में बौद्ध संस्थाओं का व्यापक विकास हुआ। स्तूप, चैत्य और विहार धार्मिक जीवन के प्रमुख केंद्र बने।

8.3 महायान बौद्ध धर्म

कुषाण काल में महायान बौद्ध धर्म का विकास विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण था। महायान में बोधिसत्त्व की अवधारणा, बुद्ध की उपासना और करुणा के आदर्श पर विशेष बल दिया गया।

8.4 जैन धर्म

मौर्योत्तर काल में जैन धर्म भी विभिन्न क्षेत्रों में विकसित हुआ। मथुरा जैन कला और प्रतिमा निर्माण का महत्त्वपूर्ण केंद्र था। जैन धर्म को व्यापारिक समुदायों का संरक्षण प्राप्त हुआ।

8.5 धार्मिक सहिष्णुता और समन्वय

मौर्योत्तर काल में विभिन्न धार्मिक परंपराएँ एक साथ विकसित हुईं। कुषाण सिक्कों पर भारतीय, ईरानी और यूनानी देवताओं का अंकन इसका विशेष उदाहरण है। सातवाहन काल में भी ब्राह्मण और बौद्ध संस्थाओं को दान दिए जाने के प्रमाण मिलते हैं।

9. मौर्योत्तर युग की कला एवं स्थापत्य

मौर्योत्तर युग भारतीय कला और स्थापत्य के इतिहास में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस काल में धार्मिक स्थापत्य, मूर्तिकला, स्तूप निर्माण, गुफा स्थापत्य और चित्रकला का व्यापक विकास हुआ। मौर्यकालीन कला में जहाँ राजकीय संरक्षण और विशाल स्तंभों का विशेष महत्त्व था, वहीं मौर्योत्तर काल में क्षेत्रीय कला शैलियों और धार्मिक संस्थाओं की भूमिका बढ़ गई।

इस युग की कला में शुंग, सातवाहन और कुषाण राजवंशों का विशेष योगदान रहा।

9.1 स्तूप स्थापत्य का विकास

स्तूप बौद्ध स्थापत्य की प्रमुख संरचना थी। इसका निर्माण बुद्ध के अवशेषों, स्मृतियों और बौद्ध धार्मिक परंपराओं से संबंधित था। मौर्योत्तर युग में स्तूपों का विस्तार, अलंकरण और कलात्मक विकास हुआ।

(क) साँची स्तूप

साँची का मूल स्तूप सम्राट अशोक के समय निर्मित हुआ था, लेकिन इसका विस्तार और अलंकरण बाद के काल में हुआ। शुंग काल में स्तूप के विस्तार तथा वेदिका और अन्य स्थापत्य भागों के विकास का विशेष महत्त्व है।

साँची स्तूप की प्रमुख विशेषताएँ—

- विशाल अर्द्धगोलाकार अंडाकार संरचना।
- चारों दिशाओं में अलंकृत तोरण।
- पत्थर की वेदिका और प्रदक्षिणा पथ।
- बुद्ध के जीवन और जातक कथाओं का चित्रण।
- वृक्ष, स्तूप, चक्र और पदचिह्न जैसे प्रतीकों का उपयोग।

साँची स्तूप भारतीय बौद्ध स्थापत्य का उत्कृष्ट उदाहरण है।

(ख) भरहुत स्तूप

भरहुत स्तूप मध्य प्रदेश में स्थित है। इसकी रेलिंगों और मूर्तिकला का विकास मुख्यतः शुंगकालीन कला से संबंधित माना जाता है।

भरहुत की प्रमुख विशेषताएँ—

1. पत्थर की वेदिका और रेलिंग।
2. जातक कथाओं का विस्तृत चित्रण।
3. बुद्ध का प्रतीकात्मक निरूपण।
4. यक्ष-यक्षिणी और लोकजीवन के दृश्य।
5. अभिलेखों के माध्यम से दानदाताओं की जानकारी।

भरहुत की कला से तत्कालीन धार्मिक विश्वासों और सामाजिक जीवन की जानकारी प्राप्त होती है।

9.2 चैत्य और विहार स्थापत्य

मौर्योत्तर युग में पश्चिमी भारत में शैलकृत गुफा स्थापत्य का विशेष विकास हुआ। पहाड़ों को काटकर चैत्यगृह और विहार बनाए गए।

चैत्यगृह: बौद्ध उपासना और स्तूप की पूजा के लिए निर्मित धार्मिक सभागृह को चैत्य कहा जाता था।

विहार: बौद्ध भिक्षुओं के निवास, अध्ययन और धार्मिक गतिविधियों के लिए बनाए गए आवासीय परिसर विहार कहलाते थे।

प्रमुख उदाहरण—

- कार्ले गुफाएँ

- भाजा गुफाएँ
- नासिक गुफाएँ
- जुन्नर गुफाएँ
- कन्हेरी गुफाएँ

इन गुफाओं में व्यापारी, श्रेष्ठी, शिल्पकार, स्थानीय शासक और राजपरिवार के सदस्यों द्वारा दान दिए जाने के अभिलेख मिलते हैं।

9.3 अमरावती कला शैली

अमरावती कला का विकास आंध्र प्रदेश में कृष्णा नदी के क्षेत्र में हुआ। इसका संबंध सातवाहन और बाद के स्थानीय राजवंशों के संरक्षण से रहा।

अमरावती कला की प्रमुख विशेषताएँ—

1. सफेद चूना पत्थर का उपयोग।
2. बुद्ध के जीवन और जातक कथाओं का चित्रण।
3. मानव आकृतियों में गति और भावनाओं की अभिव्यक्ति।
4. कथात्मक दृश्यों की सघन रचना।
5. स्तूपों की वेदिकाओं और पट्टिकाओं पर सुंदर नक्काशी।
6. कमल, वृक्ष, पशु-पक्षी और धार्मिक प्रतीकों का अंकन।

अमरावती कला भारतीय मूर्तिकला में कथात्मक अभिव्यक्ति और कलात्मक गतिशीलता का उत्कृष्ट उदाहरण है।

9.4 गांधार कला शैली

गांधार कला का विकास मुख्यतः कुषाण काल में हुआ। इस कला में भारतीय बौद्ध विषयों के साथ यूनानी-रोमन और ईरानी कलात्मक परंपराओं का समन्वय दिखाई देता है।

इसकी प्रमुख विशेषताएँ—

- बुद्ध की मानवाकार प्रतिमाएँ।
- घुँघराले बाल और प्रभावशाली चेहरे।
- वस्त्रों में गहरी सिलवटों का अंकन।

- शरीर की मांसलता और अनुपात पर ध्यान।
- धूसर शिस्ट पत्थर का प्रयोग।
- बुद्ध के जीवन की घटनाओं का चित्रण।

गांधार कला भारतीय कला के अंतरराष्ट्रीय संपर्कों का महत्त्वपूर्ण प्रमाण है।

9.5 मथुरा कला शैली

मथुरा कला का विकास उत्तर भारत में हुआ। कुषाण काल में यह कला अत्यधिक समृद्ध हुई। इसमें भारतीय यक्ष परंपरा और स्थानीय मूर्तिकला का प्रभाव दिखाई देता है।

इसकी प्रमुख विशेषताएँ—

- लाल बलुआ पत्थर का उपयोग।
- सशक्त और प्रभावशाली मानव आकृतियाँ।
- बुद्ध की प्रतिमाओं में आध्यात्मिक शांति।
- हल्के और पारदर्शी वस्त्रों का अंकन।
- जैन तीर्थंकरों और ब्राह्मण देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ।
- भारतीय धार्मिक प्रतीकों और परंपराओं की प्रधानता।

मथुरा कला ने भारतीय मूर्तिकला की स्वतंत्र शैली को विकसित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

9.6 मौर्योत्तर कला का ऐतिहासिक महत्त्व

मौर्योत्तर काल की कला से स्पष्ट होता है कि भारतीय कला केवल राजकीय संरक्षण पर निर्भर नहीं थी। व्यापारी, शिल्पकार, भिक्षु, महिलाएँ और स्थानीय समुदाय भी कला तथा स्थापत्य के विकास में योगदान दे रहे थे।

इस काल में धार्मिक कला के साथ लोकजीवन, प्रकृति, पशु-पक्षियों और सामाजिक गतिविधियों का भी चित्रण हुआ। इस प्रकार कला समाज की विविधता और सांस्कृतिक समन्वय का माध्यम बनी।

\0. मौर्योत्तर युग में साहित्य, भाषा एवं शिक्षा का विकास

मौर्योत्तर युग में साहित्य और भाषा के क्षेत्र में उल्लेखनीय परिवर्तन हुए। इस काल में संस्कृत, प्राकृत, पाली और विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं का प्रयोग होता था। धार्मिक, दार्शनिक, व्याकरणिक और काव्यात्मक साहित्य का विकास हुआ।

10.1 संस्कृत भाषा का विकास

मौर्योत्तर काल में संस्कृत भाषा का महत्त्व बढ़ने लगा। पतंजलि का *महाभाष्य* संस्कृत व्याकरण की परंपरा में एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। यह पाणिनि की *अष्टाध्यायी* और कात्यायन के वार्तिकों पर आधारित है।

रुद्रदामन का जूनागढ़ अभिलेख, जो लगभग 150 ईस्वी का है, संस्कृत गद्य का एक महत्त्वपूर्ण प्रारम्भिक राजकीय अभिलेख माना जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि संस्कृत भाषा का प्रयोग धार्मिक साहित्य से आगे बढ़कर राजकीय प्रशस्तियों में भी होने लगा था।

10.2 प्राकृत भाषा का प्रयोग

मौर्योत्तर काल में प्राकृत भाषा का व्यापक उपयोग हुआ। शुंग, सातवाहन और पश्चिमी भारत के अनेक अभिलेख प्राकृत भाषा में प्राप्त हुए हैं।

सातवाहन शासकों ने अपने अभिलेखों में प्राकृत भाषा का प्रयोग किया। नासिक और नानाघाट अभिलेख तत्कालीन भाषा और सामाजिक इतिहास के महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं।

10.3 पाली भाषा और बौद्ध साहित्य

बौद्ध धर्म की विभिन्न परंपराओं में पाली तथा अन्य प्राकृत भाषाओं का उपयोग होता रहा। बौद्ध साहित्य में जातक कथाएँ, विनय साहित्य और विभिन्न धार्मिक व्याख्याएँ महत्त्वपूर्ण थीं।

10.4 पतंजलि का महाभाष्य

पतंजलि का *महाभाष्य* भारतीय व्याकरण परंपरा का एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। यह केवल भाषाशास्त्र का ग्रंथ नहीं है, बल्कि इससे तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की भी जानकारी प्राप्त होती है।

इसमें यवनों के आक्रमण से संबंधित उदाहरणों का उल्लेख मिलता है, जो शुंगकालीन राजनीतिक परिस्थितियों को समझने में सहायक हैं।

10.5 गाथासप्तशती

सातवाहन शासक हाल को *गाथासप्तशती* के संकलन से जोड़ा जाता है। यह महाराष्ट्री प्राकृत में रचित लगभग सात सौ गाथाओं का संग्रह है।

इसमें ग्रामीण जीवन, प्रेम, प्रकृति, सामाजिक संबंधों और मानवीय भावनाओं का सुंदर चित्रण मिलता है। यह ग्रंथ तत्कालीन सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण है।

10.6 अश्वघोष का साहित्य

अश्वघोष कुषाण युग के प्रमुख बौद्ध साहित्यकार माने जाते हैं। उनकी रचनाओं में बौद्ध दर्शन और साहित्यिक सौंदर्य का सुंदर समन्वय मिलता है।

उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं—

- बुद्धचरित
- सौन्दरानन्द
- शारिपुत्रप्रकरण

बुद्धचरित में गौतम बुद्ध के जीवन और आध्यात्मिक विकास का काव्यात्मक वर्णन मिलता है।

10.7 शिक्षा और ज्ञान परंपरा

मौर्योत्तर युग में शिक्षा का विकास धार्मिक संस्थाओं, गुरुकुलों, विहारों और विद्वानों के माध्यम से हुआ। बौद्ध विहार धार्मिक शिक्षा और अध्ययन के केंद्र थे। ब्राह्मण परंपरा में वेद, व्याकरण, दर्शन और अन्य विषयों का अध्ययन होता था।

तक्षशिला जैसे केंद्र उत्तर-पश्चिम भारत की शिक्षा और बौद्धिक गतिविधियों के लिए महत्त्वपूर्ण थे। व्यापारिक संपर्कों और विभिन्न भाषायी समुदायों के कारण ज्ञान के आदान-प्रदान को भी प्रोत्साहन मिला।

11. मौर्योत्तर युग में विदेशी संपर्क और सांस्कृतिक समन्वय

मौर्योत्तर युग की एक प्रमुख विशेषता भारत का बाहरी संसार से बढ़ता हुआ संपर्क था। उत्तर-पश्चिम भारत से आने वाले विभिन्न विदेशी समुदायों ने भारतीय राजनीति, अर्थव्यवस्था और संस्कृति को प्रभावित किया।

11.1 इंडो-ग्रीक संपर्क

मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद उत्तर-पश्चिम भारत में इंडो-ग्रीक शासकों का प्रभाव बढ़ा। मेनांडर अथवा मिलिंद इस वंश का प्रसिद्ध शासक था।

बौद्ध ग्रंथ *मिलिंदपन्हो* में राजा मिलिंद और बौद्ध भिक्षु नागसेन के बीच दार्शनिक संवाद का वर्णन मिलता है। यह ग्रंथ भारतीय और यूनानी बौद्धिक परंपराओं के संपर्क का महत्त्वपूर्ण उदाहरण है।

इंडो-ग्रीक शासकों ने द्विभाषी सिक्कों का प्रचलन किया। उनके सिक्कों पर यूनानी और खरोष्ठी लिपि का प्रयोग मिलता है।

11.2 शक और पार्थियन प्रभाव

शक और पार्थियन शासकों ने उत्तर-पश्चिम भारत तथा पश्चिमी भारत के कुछ क्षेत्रों में सत्ता स्थापित की। पश्चिमी क्षत्रपों ने गुजरात और मालवा क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण राजनीतिक भूमिका निभाई।

रुद्रदामन प्रथम का जूनागढ़ अभिलेख शक इतिहास का महत्त्वपूर्ण स्रोत है। इसमें सुदर्शन झील की मरम्मत और रुद्रदामन की उपलब्धियों का उल्लेख मिलता है।

11.3 मध्य एशिया से संपर्क

कुषाण साम्राज्य ने भारत को मध्य एशिया से जोड़ने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस संपर्क से व्यापार, धर्म, भाषा, कला और तकनीक का आदान-प्रदान हुआ।

11.4 चीन के साथ संपर्क

बौद्ध धर्म के प्रसार में मध्य एशिया के मार्गों की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। भारतीय बौद्ध भिक्षुओं और ग्रंथों के माध्यम से बौद्ध विचार चीन तक पहुँचे। आगे चलकर चीन से बौद्ध यात्री भारत आए और उन्होंने भारतीय धार्मिक तथा शैक्षणिक केंद्रों का अध्ययन किया।

11.5 रोमन साम्राज्य के साथ संपर्क

भारत और रोमन साम्राज्य के बीच समुद्री व्यापार का विस्तार हुआ। पश्चिमी तट के बंदरगाहों के माध्यम से व्यापारिक वस्तुओं का आदान-प्रदान होता था। रोमन स्वर्ण मुद्राओं की भारत में प्राप्ति इस व्यापार का महत्त्वपूर्ण पुरातात्त्विक प्रमाण है।

11.6 सांस्कृतिक समन्वय

विदेशी समुदायों के भारतीय समाज में समावेश से कला, स्थापत्य, मुद्रा और धार्मिक जीवन में समन्वय दिखाई दिया। गांधार कला इसका सबसे प्रसिद्ध उदाहरण है। कुषाण सिक्कों पर विभिन्न धार्मिक परंपराओं के देवताओं का चित्रण भी सांस्कृतिक विविधता का प्रमाण है।

12. मौर्योत्तर युग में व्यापारिक नगर और बंदरगाह

मौर्योत्तर युग में व्यापारिक नगरों का विकास आर्थिक जीवन की प्रमुख विशेषता थी। ये नगर प्रशासनिक केंद्र होने के साथ-साथ शिल्प उत्पादन, व्यापार और सांस्कृतिक गतिविधियों के भी केंद्र थे।

नगर/बंदरगाह	वर्तमान क्षेत्र	ऐतिहासिक महत्त्व
पाटलिपुत्र	बिहार	शुंगकालीन राजनीतिक केंद्र
विदिशा	मध्य प्रदेश	शुंगकालीन राजनीतिक और सांस्कृतिक केंद्र
तक्षशिला	वर्तमान पाकिस्तान	शिक्षा, व्यापार और सांस्कृतिक संपर्क

मथुरा	उत्तर प्रदेश	कुषाणकालीन प्रशासन, कला और व्यापार
पुरुषपुर	पेशावर, पाकिस्तान	कुषाण साम्राज्य का प्रमुख केंद्र
प्रतिष्ठान	पैठन, महाराष्ट्र	सातवाहन सत्ता और व्यापार का केंद्र
तगर	महाराष्ट्र का प्राचीन व्यापारिक केंद्र	आंतरिक व्यापार और शिल्प उत्पादन
नासिक	महाराष्ट्र	बौद्ध गुफाएँ और व्यापारिक गतिविधियाँ
भरुकच्छ	भड़ौच, गुजरात	पश्चिमी समुद्री व्यापार का प्रमुख बंदरगाह
सोपारा	महाराष्ट्र	प्राचीन समुद्री व्यापारिक केंद्र
अमरावती	आंध्र प्रदेश	बौद्ध कला और स्थापत्य का केंद्र

इन नगरों और बंदरगाहों के विकास से स्पष्ट होता है कि मौर्योत्तर युग में भारत की अर्थव्यवस्था स्थानीय सीमाओं से आगे बढ़कर अंतरक्षेत्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्वरूप ग्रहण कर रही थी।

13. मौर्योत्तर युग के प्रमुख अभिलेख एवं साहित्यिक स्रोत

मौर्योत्तर युग के इतिहास के पुनर्निर्माण में अभिलेख, सिक्के, साहित्यिक ग्रंथ और पुरातात्त्विक अवशेष अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं।

स्रोत	**संबंधित शासक/क्षेत्र**	**ऐतिहासिक महत्त्व**
अयोध्या अभिलेख	पुष्यमित्र शुंग	दो अश्वमेध यज्ञों का उल्लेख
बेसनगर का हेलियोडोरस स्तंभ	शुंगकालीन विदिशा	भागवत धर्म और यूनानी राजदूत का प्रमाण
नानाघाट अभिलेख	नागनिका और सातवाहन	शातकर्णि प्रथम के यज्ञ और राजकीय गतिविधियाँ
नासिक अभिलेख	गौतमी बालश्री	गौतमीपुत्र शातकर्णि की उपलब्धियाँ
कार्ले अभिलेख	सातवाहनकालीन दानदाता	व्यापारियों और धार्मिक संस्थाओं के संबंध
जूनागढ़ अभिलेख	रुद्रदामन प्रथम	संस्कृत प्रशस्ति और सुदर्शन झील की मरम्मत

मथुरा अभिलेख	कुषाण शासक	कुषाण प्रशासन और धार्मिक गतिविधियाँ
सारनाथ अभिलेख	कुषाण काल	बौद्ध धर्म और प्रतिमा स्थापना
कुषाण सिक्के	विम कडफिसेस, कनिष्क आदि	राजकीय उपाधियाँ, अर्थव्यवस्था और धार्मिक विविधता
मिलिंदपन्हो	इंडो-ग्रीक परंपरा	भारतीय-यूनानी दार्शनिक संवाद
महाभाष्य	पतंजलि	भाषा, व्याकरण और राजनीतिक परिस्थितियाँ
गाथासप्तशती	हाल से संबंधित	प्राकृत साहित्य और सामाजिक जीवन
बुद्धचरित	अश्वघोष	बौद्ध साहित्य और धार्मिक विचार

स्रोतों के अध्ययन में सावधानियाँ

इतिहास लेखन में इन स्रोतों का उपयोग करते समय कुछ बातों का ध्यान रखना आवश्यक है—

1. पुराणों में राजवंशों की वंशावलियों और शासनकाल के विवरण मिलते हैं, लेकिन उनकी तिथियों में अंतर हो सकता है।
2. अभिलेख सामान्यतः अधिक प्रत्यक्ष प्रमाण देते हैं, फिर भी उनमें प्रशस्तिपरक अतिशयोक्ति हो सकती है।
3. सिक्के शासकों की उपाधियों, धार्मिक प्रतीकों और आर्थिक गतिविधियों की जानकारी देते हैं।
4. साहित्यिक ग्रंथों में धार्मिक तथा काव्यात्मक दृष्टिकोण का प्रभाव हो सकता है।
5. पुरातात्त्विक अवशेषों से सामाजिक और आर्थिक जीवन की ऐसी जानकारी मिलती है जो साहित्यिक स्रोतों में उपलब्ध नहीं होती।

14. शुंग, सातवाहन और कुषाण राजवंशों का तुलनात्मक मूल्यांकन

मौर्योत्तर युग के इन तीन प्रमुख राजवंशों ने भारतीय इतिहास में अलग-अलग क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इनके राजनीतिक और सांस्कृतिक स्वरूप में भिन्नता होने के बावजूद कुछ समान विशेषताएँ भी थीं।

14.1 राजनीतिक दृष्टि से

शुंगों ने उत्तर भारत में मौर्य सत्ता के बाद राजनीतिक संगठन का प्रयास किया। सातवाहनों ने दक्कन में एक शक्तिशाली क्षेत्रीय साम्राज्य स्थापित किया। कुषाणों ने उत्तर-पश्चिम भारत और मध्य एशिया को जोड़कर एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया।

14.2 आर्थिक दृष्टि से

शुंग काल में गंगा घाटी और मध्य भारत के व्यापारिक केंद्र सक्रिय रहे। सातवाहनों ने दक्कन और समुद्री व्यापार को प्रोत्साहित किया। कुषाणों ने मध्य एशिया और रोमन संसार के साथ अंतरराष्ट्रीय व्यापार को बढ़ावा दिया।

14.3 सामाजिक दृष्टि से

तीनों राजवंशों के समय समाज में कृषक, व्यापारी, शिल्पकार, धार्मिक समुदाय और स्थानीय शासक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। विदेशी समुदायों का भारतीय समाज में समावेश भी इस युग की महत्त्वपूर्ण विशेषता थी।

14.4 धार्मिक दृष्टि से

शुंगों ने वैदिक यज्ञ परंपरा को संरक्षण दिया, लेकिन उनके समय में बौद्ध कला का विकास भी जारी रहा। सातवाहनों ने ब्राह्मण और बौद्ध दोनों परंपराओं को दान दिया। कुषाणों ने बौद्ध धर्म के साथ भारतीय, ईरानी और यूनानी धार्मिक परंपराओं को भी स्थान दिया।

14.5 कला और स्थापत्य की दृष्टि से

शुंग काल में भरहुत और साँची स्तूपों का विकास हुआ। सातवाहन काल में अमरावती कला तथा पश्चिमी भारत की चैत्य-विहार स्थापत्य परंपरा विकसित हुई। कुषाण काल में गांधार और मथुरा कला का उत्कर्ष हुआ।

इस प्रकार तीनों राजवंशों ने भारतीय कला और स्थापत्य को नई दिशाएँ प्रदान कीं।

15. मौर्योत्तर युग का भारतीय इतिहास में महत्त्व

मौर्योत्तर युग को केवल मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद का राजनीतिक संक्रमण काल मानना उचित नहीं होगा। यह भारतीय इतिहास में क्षेत्रीय राज्यों के विकास, व्यापारिक विस्तार, धार्मिक विविधता और सांस्कृतिक समन्वय का महत्त्वपूर्ण युग था।

इस काल का महत्त्व निम्नलिखित बिंदुओं से स्पष्ट होता है—

1. **क्षेत्रीय राज्यों का विकास:** मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद शुंग, सातवाहन, कुषाण और अन्य क्षेत्रीय शक्तियों का उदय हुआ।

2. **राजनीतिक विविधता:** विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग राजनीतिक और प्रशासनिक व्यवस्थाएँ विकसित हुईं।
3. **व्यापार का विस्तार:** भारत का मध्य एशिया, चीन, पश्चिम एशिया और रोमन साम्राज्य से व्यापार बढ़ा।
4. **मुद्रा अर्थव्यवस्था:** विभिन्न राजवंशों के सिक्कों ने व्यापार और विनिमय व्यवस्था को मजबूत किया।
5. **नगरों का विकास:** मथुरा, तक्षशिला, प्रतिष्ठान, पुरुषपुर और अन्य नगर व्यापारिक एवं सांस्कृतिक केंद्र बने।
6. **धार्मिक सह-अस्तित्व:** बौद्ध, जैन और ब्राह्मण धार्मिक परंपराएँ साथ-साथ विकसित हुईं।
7. **बौद्ध धर्म का प्रसार:** कुषाणों के संरक्षण में बौद्ध धर्म मध्य एशिया की ओर विस्तृत हुआ।
8. **कला का विकास:** गांधार, मथुरा और अमरावती जैसी कला शैलियों का उत्कर्ष हुआ।
9. **साहित्य का विकास:** संस्कृत, प्राकृत और पाली साहित्य को नई दिशा मिली।
10. **सांस्कृतिक समन्वय:** विदेशी और भारतीय परंपराओं के मेल से नई कलात्मक एवं धार्मिक प्रवृत्तियाँ विकसित हुईं।
11. **व्यापारिक समुदायों की भूमिका:** व्यापारी और शिल्पकार धार्मिक तथा सांस्कृतिक संस्थाओं के संरक्षण में सक्रिय हुए।
12. **गुप्तकाल की आधारभूमि:** इस युग की राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक उपलब्धियों ने आगे चलकर गुप्तकालीन विकास की पृष्ठभूमि तैयार की।

ष्कर्ष

मौर्योत्तर युग भारतीय इतिहास का एक संक्रमणशील, परिवर्तनकारी और सृजनात्मक काल था। मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद राजनीतिक एकता कमजोर हुई, लेकिन इसके स्थान पर अनेक क्षेत्रीय राज्यों का उदय हुआ। इन राज्यों ने अपनी भौगोलिक, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार राजनीतिक तथा प्रशासनिक व्यवस्थाओं का विकास किया।

शुंग वंश ने उत्तर भारत में मौर्य सत्ता के बाद राजनीतिक संगठन का प्रयास किया और वैदिक धार्मिक परंपराओं को संरक्षण दिया। साथ ही, इस काल में साँची और भरहुत जैसे बौद्ध कला केंद्रों का विकास जारी रहा। सातवाहन वंश ने दक्कन में राजनीतिक शक्ति का विस्तार किया तथा उत्तर और दक्षिण

भारत के बीच आर्थिक एवं सांस्कृतिक संपर्कों को मजबूत किया। उसके शासनकाल में कृषि, व्यापार, समुद्री गतिविधियों, अमरावती कला और प्राकृत साहित्य का उल्लेखनीय विकास हुआ।

कुषाण वंश ने भारत को मध्य एशिया और पश्चिमी संसार से जोड़ने में ऐतिहासिक भूमिका निभाई। कनिष्क के शासनकाल में कुषाण साम्राज्य अपनी शक्ति के शिखर पर पहुँचा। इस काल में बौद्ध धर्म का विस्तार, महायान परंपरा का विकास, स्वर्ण मुद्राओं का प्रचलन तथा गांधार और मथुरा कला का उत्कर्ष हुआ।

आर्थिक दृष्टि से यह काल कृषि, शिल्प, व्यापार और नगरों के विकास का युग था। सामाजिक दृष्टि से इसमें वर्ण व्यवस्था, व्यावसायिक समूहों और विदेशी समुदायों के समावेश की प्रक्रिया दिखाई देती है। धार्मिक दृष्टि से बौद्ध, जैन और ब्राह्मण परंपराओं के सह-अस्तित्व तथा सांस्कृतिक समन्वय का विकास हुआ। कला और साहित्य के क्षेत्र में भी इस युग ने भारतीय सभ्यता को अनेक स्थायी उपलब्धियाँ प्रदान कीं।

अतः कहा जा सकता है कि मौर्योत्तर युग राजनीतिक विखंडन का काल होने के बावजूद आर्थिक विस्तार, सामाजिक परिवर्तन, धार्मिक विविधता और सांस्कृतिक समन्वय का अत्यंत महत्त्वपूर्ण युग था। शुंग, सातवाहन और कुषाण राजवंशों ने भारतीय इतिहास को नई राजनीतिक दिशा प्रदान की और आगे आने वाले गुप्तकालीन सांस्कृतिक उत्कर्ष की आधारभूमि तैयार की।

राकेश मोहन नोटिस

संगम युग: संगम साहित्य, राजनीति, अर्थव्यवस्था और समाज

(Sangam Age: Sangam Literature, Polity, Economy and Society)

प्रस्तावना

भारतीय इतिहास में दक्षिण भारत का प्राचीन इतिहास अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। जिस प्रकार उत्तर भारत में वैदिक सभ्यता, महाजनपदों, मौर्य साम्राज्य और गुप्त साम्राज्य के माध्यम से राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास हुआ, उसी प्रकार दक्षिण भारत में भी एक समृद्ध सभ्यता का विकास हुआ। दक्षिण भारत के प्राचीन इतिहास में संगम युग का विशेष महत्व है। यह काल तमिल साहित्य, राजनीति, अर्थव्यवस्था, सामाजिक जीवन, धार्मिक परम्पराओं तथा समुद्री व्यापार के विकास के लिए जाना जाता है।

संगम युग प्राचीन तमिल सभ्यता के उत्कर्ष का काल था। इस युग में तमिल भाषा और साहित्य ने उल्लेखनीय प्रगति की। चेर, चोल और पाण्ड्य नामक तीन प्रमुख राजवंशों ने दक्षिण भारत की राजनीति को प्रभावित किया। कृषि, पशुपालन, हस्तशिल्प, आंतरिक व्यापार और विदेशी समुद्री व्यापार अर्थव्यवस्था के प्रमुख आधार थे। समाज में विभिन्न व्यवसायों, समुदायों और सामाजिक वर्गों का अस्तित्व था। महिलाओं की सामाजिक, साहित्यिक एवं आर्थिक गतिविधियों में भी महत्वपूर्ण भूमिका दिखाई देती है।

संगम साहित्य इस युग के इतिहास का सबसे महत्वपूर्ण स्रोत है। इसमें तत्कालीन राजनीतिक घटनाओं, युद्धों, राजाओं, व्यापारिक गतिविधियों, सामाजिक जीवन, प्रेम, प्रकृति, धर्म और सांस्कृतिक परम्पराओं का विस्तृत वर्णन मिलता है। इस साहित्य के अध्ययन से दक्षिण भारत के प्राचीन इतिहास को समझने में सहायता मिलती है।

सामान्यतः संगम युग को लगभग तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व से तीसरी शताब्दी ईस्वी के मध्य विकसित तमिल सांस्कृतिक परम्परा से जोड़ा जाता है। हालांकि इसके काल-निर्धारण को लेकर इतिहासकारों में

मतभेद हैं। उपलब्ध संगम साहित्य का बड़ा हिस्सा प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल, विशेषकर लगभग पहली से तीसरी शताब्दी ईस्वी के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन की जानकारी देता है।

1. संगम युग का अर्थ एवं परिचय

'संगम' शब्द का अर्थ है सभा, सम्मेलन अथवा विद्वानों का समूह। तमिल परम्परा के अनुसार संगम उन विद्वानों, कवियों और साहित्यकारों की सभाओं को कहा जाता था, जिनमें तमिल भाषा एवं साहित्य की रचना, समीक्षा और विकास किया जाता था।

परम्परागत मान्यता के अनुसार प्राचीन तमिल प्रदेश में तीन संगम आयोजित किए गए थे। इनका संरक्षण पाण्ड्य राजाओं द्वारा किया जाता था। इन संगमों में कवियों, विद्वानों और साहित्यकारों ने भाग लिया तथा तमिल भाषा के साहित्यिक विकास में योगदान दिया।

संगम परम्परा का उल्लेख तमिल साहित्य की परवर्ती रचनाओं में मिलता है। विशेष रूप से नक्कीरर से सम्बद्ध परम्पराएँ तथा इरैयनार अकप्पोरुल की टीका तीन संगमों की अवधारणा को प्रस्तुत करती हैं।

संगम युग की प्रमुख विशेषताएँ

1. तमिल भाषा और साहित्य का अभूतपूर्व विकास।
2. चेर, चोल और पाण्ड्य तीन प्रमुख राजवंशों का राजनीतिक प्रभाव।
3. कृषि एवं समुद्री व्यापार का विस्तार।
4. रोमन साम्राज्य के साथ व्यापारिक सम्बन्ध।
5. नगरों और बंदरगाहों का विकास।
6. समाज में विभिन्न व्यवसायों एवं सामाजिक समूहों का अस्तित्व।
7. वीरता, युद्ध और दानशीलता को विशेष महत्त्व।
8. प्रकृति और मानव जीवन के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध।
9. महिलाओं की साहित्यिक गतिविधियों में भागीदारी।
10. धार्मिक जीवन में स्थानीय देवताओं के साथ वैदिक एवं अन्य धार्मिक परम्पराओं का समन्वय।

इस प्रकार संगम युग दक्षिण भारत के प्राचीन इतिहास में राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और साहित्यिक विकास का महत्वपूर्ण चरण था।

2. संगम युग का काल निर्धारण

संगम युग के काल निर्धारण की समस्या इतिहासकारों के लिए महत्वपूर्ण रही है। इसका मुख्य कारण यह है कि संगम साहित्य में घटनाओं और राजाओं का उल्लेख तो मिलता है, लेकिन सभी रचनाओं की निश्चित तिथि उपलब्ध नहीं है।

अधिकांश इतिहासकार संगम साहित्य के प्रमुख ऐतिहासिक संदर्भों को लगभग तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व से तीसरी शताब्दी ईस्वी के मध्य विकसित मानते हैं।

काल निर्धारण के प्रमुख आधार

1. साहित्यिक साक्ष्य

संगम साहित्य में चेर, चोल और पाण्ड्य राजाओं का उल्लेख मिलता है। इसमें युद्धों, व्यापारिक गतिविधियों, नगरों तथा विदेशी व्यापारियों के बारे में जानकारी प्राप्त होती है।

2. पुरातात्त्विक साक्ष्य

तमिलनाडु के विभिन्न स्थानों से प्राप्त पुरातात्त्विक अवशेष इस काल की आर्थिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों को प्रमाणित करते हैं।

प्रमुख पुरातात्त्विक स्थल हैं—

- अरिकामेडु
- कोडुमनाल
- कीलाडी
- अलगनकुलम
- कोरकई
- कावेरीपट्टनम (पुहार)

इन स्थानों से प्राप्त मृद्भांड, मनके, सिक्के, आभूषण, विदेशी वस्तुएँ तथा अन्य अवशेष प्राचीन तमिल समाज की विकसित आर्थिक व्यवस्था को दर्शाते हैं।

3. विदेशी विवरण

रोमन तथा यूनानी लेखकों ने दक्षिण भारत के साथ व्यापारिक सम्बन्धों का उल्लेख किया है।

प्रमुख विदेशी स्रोत हैं—

- *पेरिप्लस ऑफ द एरिथ्रियन सी*

राकेश मोहन नोट्स

- प्लिनी का प्राकृतिक इतिहास
- टॉलेमी का भूगोल
- स्ट्रैबो के विवरण।

इन स्रोतों से दक्षिण भारत के बंदरगाहों तथा भूमध्यसागरीय व्यापार के बारे में जानकारी मिलती है।

4. अभिलेखीय साक्ष्य

तमिल-ब्राह्मी अभिलेख संगम युग के इतिहास के महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं। इन अभिलेखों से भाषा, दान, व्यापारिक समुदायों और धार्मिक गतिविधियों की जानकारी मिलती है।

निष्कर्ष

संगम युग का काल निर्धारण केवल साहित्यिक परम्परा पर आधारित नहीं है, बल्कि साहित्यिक, पुरातात्त्विक, अभिलेखीय और विदेशी साक्ष्यों के संयुक्त अध्ययन से किया जाता है।

3. संगम युग के ऐतिहासिक स्रोत

संगम युग के इतिहास के पुनर्निर्माण के लिए साहित्यिक, पुरातात्त्विक, अभिलेखीय और विदेशी स्रोतों का विशेष महत्त्व है।

(क) साहित्यिक स्रोत

संगम साहित्य इस युग का सबसे महत्त्वपूर्ण स्रोत है। यह साहित्य तमिल भाषा में रचा गया था।

संगम साहित्य को मुख्यतः निम्नलिखित भागों में विभाजित किया जाता है—

1. एट्टुत्तोकै (आठ संकलन)
2. पत्तुप्पाट्टु (दस गीत)
3. तोलकाप्पियम
4. पदिनेनकिलक्कणक्कु (अठारह लघु ग्रंथ)

1. एट्टुत्तोकै (आठ संकलन)

एट्टुत्तोकै का अर्थ है आठ संकलन। इसमें आठ प्रमुख काव्य संग्रह सम्मिलित हैं।

इनके नाम हैं—

1. नत्त्रिणै

2. कुरुंतोकै
3. ऐंकुरुनूरु
4. पदिर्रुप्पत्तु
5. परिपाडल
6. कलित्तोकै
7. अकनानूरु
8. पुरनानूरु

इनमें से प्रत्येक ग्रंथ तत्कालीन समाज के अलग-अलग पक्षों पर प्रकाश डालता है।

अकनानूरु: इसमें प्रेम, परिवार, व्यक्तिगत भावनाओं और स्त्री-पुरुष सम्बन्धों का वर्णन मिलता है।

पुरनानूरु: इसमें युद्ध, वीरता, दानशीलता, राजाओं, राजनीतिक घटनाओं और सामाजिक जीवन का वर्णन किया गया है।

पदिर्रुप्पत्तु: यह विशेष रूप से चेर राजाओं के इतिहास की जानकारी देता है।

परिपाडल: इसमें धार्मिक भावनाओं, देवताओं और संगीत से सम्बन्धित सामग्री मिलती है।

2. पत्तुप्पाट्टु (दस गीत)

पत्तुप्पाट्टु का अर्थ है दस गीत। यह दस दीर्घ काव्य रचनाओं का संग्रह है।

इसके प्रमुख ग्रंथ हैं—

1. तिरुमुरुकाट्टुप्पडै
2. पोरुनराट्टुप्पडै
3. सिरुपाणाट्टुप्पडै
4. पेरुम्पाणाट्टुप्पडै
5. मुल्लैपाट्टु
6. मदुरैक्कांजी
7. नेडुनलवाडै
8. कुरिंजिप्पाट्टु

सहज गाइड नोट्स

9. पट्टिनप्पालै

10. मलैपडुकडाम

इनमें तत्कालीन राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का चित्रण मिलता है।

विशेष रूप से *पट्टिनप्पालै* में चोलों की राजधानी और प्रमुख बंदरगाह कावेरीपट्टनम के व्यापारिक एवं नगरीय जीवन का वर्णन मिलता है।

मदुरैक्कांजी में पाण्ड्य राजधानी मदुरै की समृद्धि, प्रशासन, बाजार और सामाजिक जीवन की जानकारी प्राप्त होती है।

3. तोलकाप्पियम

तोलकाप्पियम तमिल भाषा का प्राचीनतम उपलब्ध व्याकरणिक ग्रंथ माना जाता है। इसके रचयिता तोलकाप्पियर माने जाते हैं।

इस ग्रंथ के तीन प्रमुख भाग हैं—

1. एळुत्तिकारम – वर्ण एवं ध्वनि व्यवस्था।
2. सोल्लतिकारम – शब्द एवं व्याकरण।
3. पोरुळतिकारम – अर्थ, काव्यशास्त्र और सामाजिक-सांस्कृतिक विषय।

तोलकाप्पियम केवल व्याकरण का ग्रंथ नहीं है, बल्कि यह तत्कालीन तमिल समाज, प्रेम, युद्ध, प्रकृति और सामाजिक जीवन की जानकारी भी देता है।

4. पदिनेनकिलक्कणक्कु

इसका अर्थ है अठारह लघु ग्रंथ। इनमें नैतिकता, सदाचार, सामाजिक व्यवहार और जीवन मूल्यों का वर्णन मिलता है।

इस समूह का सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रंथ है—

तिरुक्कुरल – रचनाकार तिरुवल्लुवर।

तिरुक्कुरल में मानव जीवन के तीन प्रमुख पक्षों का वर्णन है—

- अरम (धर्म एवं सदाचार)
- पोरुल (अर्थ एवं राजनीति)
- इनबम (प्रेम एवं सुख)

राकेश मौर्य नोट्स

यह ग्रंथ भारतीय नैतिक एवं दार्शनिक साहित्य की महत्त्वपूर्ण रचना है।

(ख) पुरातात्त्विक स्रोत

संगम युग के अध्ययन में पुरातात्त्विक साक्ष्यों का विशेष महत्त्व है।

1. अरिकामेडु

अरिकामेडु वर्तमान पुडुचेरी के निकट स्थित एक महत्त्वपूर्ण पुरातात्त्विक स्थल है।

यहाँ से निम्नलिखित अवशेष प्राप्त हुए हैं—

- रोमन शैली के मृद्भांड।
- एम्फोरा के टुकड़े।
- मनके और आभूषण।
- काँच की वस्तुएँ।
- विदेशी व्यापार से सम्बन्धित सामग्री।

इन अवशेषों से भारत और रोमन साम्राज्य के बीच व्यापारिक सम्बन्धों की जानकारी मिलती है।

2. कीलाडी

कीलाडी तमिलनाडु के शिवगंगा जिले में स्थित एक महत्त्वपूर्ण पुरातात्त्विक स्थल है।

यहाँ से प्राप्त अवशेषों में शामिल हैं—

- ईंटों से निर्मित संरचनाएँ।
- जल निकासी व्यवस्था।
- मृद्भांड।
- तमिल-ब्राह्मी अभिलेख।
- मनके और अन्य शिल्प सामग्री।

ये अवशेष प्राचीन तमिल समाज के नगरीय जीवन, साक्षरता और शिल्प गतिविधियों के अध्ययन में उपयोगी हैं।

3. कोडुमनाल

कोडुमनाल प्राचीन तमिलनाडु का एक प्रमुख औद्योगिक एवं व्यापारिक केन्द्र था।

गवर्नमेंट नौटियाल

यहाँ से मनके, लौह उपकरण, आभूषण तथा शिल्प उत्पादन से सम्बन्धित अवशेष प्राप्त हुए हैं।

4. कावेरीपट्टनम

इसे पुहार के नाम से भी जाना जाता था। यह चोलों का प्रमुख बंदरगाह था। यहाँ से समुद्री व्यापार और नगरीय जीवन की जानकारी मिलती है।

(ग) अभिलेखीय स्रोत

तमिल-ब्राह्मी अभिलेख संगम युग के इतिहास के महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं।

इनसे निम्नलिखित जानकारियाँ प्राप्त होती हैं—

- तमिल भाषा के प्रारम्भिक लिखित रूप।
- व्यापारिक समुदायों का अस्तित्व।
- धार्मिक दान और गतिविधियाँ।
- सामाजिक संगठनों की जानकारी।
- व्यक्तियों और स्थानीय शासकों के नाम।

विशेष रूप से जैन साधुओं के लिए निर्मित शैलाश्रयों में प्राप्त अभिलेख तत्कालीन धार्मिक जीवन की जानकारी देते हैं।

(घ) विदेशी विवरण

संगम युग के इतिहास के अध्ययन में विदेशी लेखकों के विवरण भी महत्त्वपूर्ण हैं।

1. प्लिनी

रोमन लेखक प्लिनी ने भारत के साथ रोमन व्यापार का उल्लेख किया है। उसने भारत से होने वाले व्यापार के कारण रोमन धन के बाहर जाने की चिंता व्यक्त की थी।

2. पेरिप्लस ऑफ द एरिथ्रियन सी

यह पहली शताब्दी ईस्वी का एक महत्त्वपूर्ण यूनानी व्यापारिक विवरण है।

इसमें दक्षिण भारत के प्रमुख बंदरगाहों और व्यापारिक गतिविधियों का वर्णन मिलता है।

3. टॉलेमी

टॉलेमी ने अपने भूगोल संबंधी विवरण में दक्षिण भारत के अनेक नगरों और बंदरगाहों का उल्लेख किया है।

राकेश मोहन नौटियाल

4. स्ट्रैबो

स्ट्रैबो ने भारत और रोमन संसार के बीच व्यापारिक सम्बन्धों का उल्लेख किया है।

इस प्रकार विदेशी विवरण संगम युग के व्यापारिक और आर्थिक इतिहास के पुनर्निर्माण में सहायक हैं।

4. संगम युग की राजनीतिक स्थिति

संगम युग की राजनीतिक व्यवस्था का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष चेर, चोल और पाण्ड्य तीन प्रमुख राजवंशों का अस्तित्व था। इन तीनों को सामूहिक रूप से तमिलकम की तीन प्रमुख राजनीतिक शक्तियाँ कहा जाता है।

इनके अतिरिक्त अनेक छोटे शासक और स्थानीय सरदार भी राजनीतिक व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते थे।

(क) चेर राजवंश

चेर राजवंश का शासन मुख्यतः वर्तमान केरल तथा पश्चिमी तमिलनाडु के कुछ भागों में स्थापित था।

चेर शासकों का क्षेत्र पश्चिमी घाट और अरब सागर के तटीय क्षेत्रों तक फैला हुआ था।

इनकी शक्ति का प्रमुख आधार मसालों का व्यापार, कृषि और समुद्री व्यापार था।

प्रमुख चेर शासक

1. उदियन चेरलाथन

उदियन चेरलाथन को प्रारम्भिक चेर शासकों में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। संगम साहित्य में उसकी दानशीलता और प्रतिष्ठा का उल्लेख मिलता है।

2. नेडुम चेरलाथन

यह चेर राजवंश का एक महत्त्वपूर्ण शासक था। साहित्यिक स्रोतों में उसके सैन्य अभियानों और राजनीतिक उपलब्धियों का वर्णन मिलता है।

3. सेनगुट्टुवन चेरल

सेनगुट्टुवन चेरल चेर राजवंश का प्रसिद्ध शासक था।

उसकी उपलब्धियों का उल्लेख संगम साहित्य तथा तमिल महाकाव्य *शिलप्पदिकारम्* में मिलता है।

परम्परा के अनुसार उसने कन्नगी के सम्मान में पत्तिनी देवी की पूजा की परम्परा को प्रोत्साहित किया।

चेरों का महत्त्व

1. पश्चिमी तट के व्यापार पर प्रभाव।
2. काली मिर्च और मसालों के व्यापार का विकास।
3. रोमन व्यापारियों से सम्बन्ध।
4. साहित्य एवं संस्कृति का संरक्षण।
5. पश्चिमी घाट के क्षेत्रों में राजनीतिक प्रभाव।

(ख) चोल राजवंश

चोल राजवंश दक्षिण भारत के सबसे महत्त्वपूर्ण प्राचीन राजवंशों में से एक था।

इनका प्रमुख क्षेत्र कावेरी नदी की घाटी तथा वर्तमान तमिलनाडु के मध्य और पूर्वी भागों में स्थित था।

चोलों की शक्ति का आधार उपजाऊ कृषि भूमि, कावेरी नदी, समुद्री व्यापार और सैन्य संगठन था।

प्रमुख चोल शासक

1. करिकाल चोल

करिकाल चोल संगम युग का सबसे प्रसिद्ध चोल शासक माना जाता है।

संगम साहित्य में उसकी वीरता और उपलब्धियों का वर्णन मिलता है।

उसकी प्रमुख उपलब्धियाँ निम्नलिखित थीं—

- युद्धों में विजय।
- चोल राज्य की शक्ति का विस्तार।
- कावेरी नदी के तटबन्धों के निर्माण से सम्बन्धित परम्परा।
- कृषि एवं सिंचाई को प्रोत्साहन।
- कावेरीपट्टनम के विकास से सम्बन्धित उल्लेख।

करिकाल चोल का नाम विशेष रूप से कावेरी नदी पर निर्मित प्राचीन कल्लनई बाँध (ग्रैंड एनीकट) की परम्परा से जुड़ा है।

यह बाँध सिंचाई व्यवस्था के विकास में महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

2. किल्लि वलवन

किल्लि वलवन चोल वंश का एक प्रसिद्ध शासक था। संगम साहित्य में उसकी वीरता, राजनीतिक गतिविधियों और दानशीलता का उल्लेख मिलता है।

3. नलंकिल्लि

नलंकिल्लि भी संगम साहित्य में उल्लिखित एक चोल शासक था। उसके शासनकाल में चोलों के आंतरिक संघर्षों का उल्लेख मिलता है।

चोलों का राजनीतिक महत्त्व

1. कृषि का विकास।
2. सिंचाई व्यवस्था का विस्तार।
3. समुद्री व्यापार को प्रोत्साहन।
4. कावेरीपट्टनम का विकास।
5. सैन्य शक्ति में वृद्धि।
6. तमिल साहित्य और संस्कृति का संरक्षण।

(ग) पाण्ड्य राजवंश

पाण्ड्य राजवंश का शासन मुख्यतः वर्तमान दक्षिणी तमिलनाडु में स्थापित था।

मदुरै इसकी प्रमुख राजधानी थी। कोरकई इसका एक महत्त्वपूर्ण बंदरगाह था।

पाण्ड्य राज्य मोती उत्पादन, मछली पकड़ने और समुद्री व्यापार के लिए प्रसिद्ध था।

प्रमुख पाण्ड्य शासक

1. नेडुंजेलियन

नेडुंजेलियन संगम साहित्य में उल्लिखित प्रमुख पाण्ड्य शासकों में से एक था।

उसका नाम युद्धों और सैन्य अभियानों से जुड़ा हुआ है।

2. मुदुकुडुमि पेरुवलुति

यह एक प्रसिद्ध पाण्ड्य शासक था। साहित्यिक परम्परा में उसके धार्मिक अनुष्ठानों और दानशीलता का उल्लेख मिलता है।

3. तलैयालंगानत्तु सेरुवेन्द्र नेडुंजेलियन

राकेश मोहन नौटियाल

यह पाण्ड्य शासक अपनी सैन्य उपलब्धियों के लिए प्रसिद्ध था। संगम साहित्य में तलैयालंगानम के युद्ध में उसकी विजय का वर्णन मिलता है।

पाण्ड्य राजवंश का महत्त्व

- मदुरै को साहित्यिक एवं सांस्कृतिक केन्द्र के रूप में विकसित करना।
- मोती व्यापार को प्रोत्साहन।
- विदेशी व्यापारिक सम्बन्ध।
- तमिल साहित्य का संरक्षण।
- धार्मिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों का विकास।

(घ) तीन प्रमुख राजवंशों के अतिरिक्त छोटे शासक

संगम युग में चेर, चोल और पाण्ड्य राजवंशों के अतिरिक्त अनेक स्थानीय शासक और सरदार भी प्रभावशाली थे।

इनमें वेलिर प्रमुख थे।

संगम साहित्य में कुछ प्रसिद्ध स्थानीय सरदारों का उल्लेख मिलता है—

1. पारी
2. ओरी
3. पेगन
4. आय
5. अडियमान
6. नल्ली
7. कारि

इन शासकों को उनकी वीरता, उदारता और दानशीलता के लिए जाना जाता था।

विशेष रूप से वेल पारी अपनी दानशीलता के लिए प्रसिद्ध था। संगम साहित्य में उसके द्वारा एक लता को सहारा देने के लिए अपना रथ दे देने की कथा मिलती है।

इन स्थानीय शासकों के अस्तित्व से स्पष्ट होता है कि संगम युग की राजनीतिक व्यवस्था पूर्णतः केंद्रीकृत नहीं थी।

राकेश मोहन नोटियाल

5. संगम युग की प्रशासनिक व्यवस्था

संगम युग में राजनीतिक प्रशासन का प्रमुख आधार राजतंत्र था। राजा राज्य का सर्वोच्च अधिकारी होता था।

राजा के पास प्रशासन, न्याय, सैन्य संगठन और राजस्व व्यवस्था से सम्बन्धित अधिकार होते थे।

1. राजा की स्थिति

राजा को राजनीतिक और सैन्य व्यवस्था का सर्वोच्च केन्द्र माना जाता था।

राजा के प्रमुख कार्य थे—

- राज्य की सुरक्षा करना।
- न्याय व्यवस्था बनाए रखना।
- कर संग्रह करना।
- युद्धों का संचालन करना।
- कृषि एवं व्यापार को प्रोत्साहित करना।
- कवियों और विद्वानों को संरक्षण देना।
- प्रजा के कल्याण का ध्यान रखना।

संगम साहित्य में आदर्श राजा को न्यायप्रिय, वीर, उदार और प्रजावत्सल बताया गया है।

2. राजकीय परिषद

राजा प्रशासन में विभिन्न अधिकारियों और सलाहकारों की सहायता लेता था।

राजा के साथ मंत्री, सेनापति, राजस्व अधिकारी और अन्य प्रशासनिक कर्मचारी कार्य करते थे।

संगम साहित्य में 'ऐम्पेरुंगुलु' और 'एण्पेरायम' जैसी संस्थाओं के उल्लेख मिलते हैं। इन्हें राजकीय प्रशासनिक समूहों से जोड़कर देखा जाता है, हालांकि इनके वास्तविक स्वरूप और कार्यों के संबंध में पर्याप्त ऐतिहासिक सावधानी आवश्यक है।

3. प्रशासनिक इकाइयाँ

राज्य का प्रशासन विभिन्न भौगोलिक एवं स्थानीय इकाइयों के माध्यम से संचालित होता था।

ग्राम स्थानीय आर्थिक और सामाजिक जीवन की महत्त्वपूर्ण इकाई था।

सुरेश मोहन नौटियाल

स्थानीय स्तर पर कृषक, व्यापारी, शिल्पकार और अन्य समुदाय अपने सामुदायिक कार्यों का संचालन करते थे।

4. न्याय व्यवस्था

राजा न्याय का सर्वोच्च अधिकारी था।

न्याय व्यवस्था में सामाजिक परम्पराओं, रीति-रिवाजों और प्रचलित नियमों का महत्त्व था।

राजा से अपेक्षा की जाती थी कि वह निष्पक्ष न्याय करे और अपराधों को नियंत्रित करे।

5. सैन्य व्यवस्था

संगम युग में सैन्य शक्ति को विशेष महत्त्व प्राप्त था।

सेना के प्रमुख अंग थे—

- पैदल सेना
- घुड़सवार सेना
- हाथी सेना
- रथ सेना

राजा की प्रतिष्ठा उसके सैन्य अभियानों और युद्धों में प्राप्त विजय से भी निर्धारित होती थी।

संगम साहित्य में वीर योद्धाओं, युद्धभूमि, युद्ध में मृत्यु तथा वीर स्मारकों का वर्णन मिलता है।

6. राजस्व व्यवस्था

राज्य की आय का प्रमुख स्रोत भूमि से प्राप्त कर था।

इसके अतिरिक्त व्यापारिक शुल्क, बंदरगाह कर, सीमा शुल्क और अन्य राजकीय आय के स्रोत भी थे।

कृषि उत्पादन, व्यापारिक वस्तुओं और बंदरगाहों से प्राप्त आय राज्य की आर्थिक शक्ति का आधार थी।

6. संगम युग की आर्थिक स्थिति

संगम युग की अर्थव्यवस्था अत्यंत विकसित और विविधतापूर्ण थी। कृषि, पशुपालन, शिल्प उद्योग, आंतरिक व्यापार और विदेशी व्यापार इसके प्रमुख आधार थे।

इस युग में कृषि आधारित ग्रामीण अर्थव्यवस्था के साथ-साथ व्यापारिक नगरों और बंदरगाहों का भी विकास हुआ।

राकेश मोहन नौटियाल

(क) कृषि व्यवस्था

कृषि संगम युग की अर्थव्यवस्था का प्रमुख आधार थी।

दक्षिण भारत की नदियों, मानसूनी वर्षा और उपजाऊ भूमि ने कृषि विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

प्रमुख कृषि फसलें

1. धान
2. जौ
3. बाजरा
4. रागी
5. गन्ना
6. कपास
7. दालें
8. नारियल
9. केले
10. विभिन्न मसाले

इनमें धान प्रमुख खाद्यान्न था।

कावेरी नदी की घाटी कृषि उत्पादन के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध थी।

सिंचाई व्यवस्था

संगम युग में कृषि विकास के लिए सिंचाई व्यवस्था महत्त्वपूर्ण थी।

सिंचाई के प्रमुख साधन थे—

- नदियाँ
- तालाब
- कुएँ
- जलाशय
- नहरें

राकेश मोहन नौटियाल

- बाँध

करिकाल चोल द्वारा कावेरी नदी पर कल्लनई बाँध के निर्माण की परम्परा दक्षिण भारत की प्राचीन सिंचाई व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण उदाहरण है।

कृषि का सामाजिक महत्व

कृषि केवल आर्थिक गतिविधि नहीं थी, बल्कि यह सामाजिक जीवन और राजनीतिक व्यवस्था का भी आधार थी।

भूमि की उर्वरता, सिंचाई और उत्पादन के आधार पर राज्य की आर्थिक शक्ति निर्धारित होती थी।

(ख) पशुपालन

संगम युग में पशुपालन भी अर्थव्यवस्था का महत्त्वपूर्ण अंग था।

प्रमुख पालतू पशु थे—

- गाय
- बैल
- भैंस
- भेड़
- बकरी
- घोड़े

पशुओं से दूध, घी, मांस, ऊन तथा कृषि कार्यों के लिए श्रम प्राप्त होता था।

विशेष रूप से मुल्लै क्षेत्र में पशुपालन का अधिक महत्व था।

(ग) शिल्प एवं उद्योग

संगम युग में अनेक प्रकार के शिल्प और उद्योग विकसित थे।

प्रमुख उद्योग निम्नलिखित थे—

1. वस्त्र उद्योग

तमिल क्षेत्र में सूती वस्त्रों का निर्माण होता था।

सूती वस्त्रों की माँग विदेशी बाजारों में भी थी।

राकेश मोहन नौटियाल

2. धातु उद्योग

लोहा, ताँबा, सोना और अन्य धातुओं से विभिन्न वस्तुएँ बनाई जाती थीं।

लोहे से कृषि उपकरण, हथियार और दैनिक उपयोग की वस्तुएँ तैयार की जाती थीं।

3. आभूषण निर्माण

सोने, चाँदी, मोती, रत्न और विभिन्न प्रकार के पत्थरों से आभूषण बनाए जाते थे।

4. मनका उद्योग

कोडुमनाल जैसे स्थलों से मनका निर्माण और शिल्प गतिविधियों के प्रमाण प्राप्त हुए हैं।

5. मृद्भांड उद्योग

मिट्टी के बर्तनों का निर्माण दैनिक जीवन और व्यापार दोनों के लिए किया जाता था।

6. जहाज निर्माण

समुद्री व्यापार की आवश्यकताओं के कारण जहाज निर्माण एवं नौपरिवहन गतिविधियाँ विकसित हुई थीं।

7. मोती उद्योग

पाण्ड्य क्षेत्र में मोती निकालने का व्यवसाय विशेष रूप से प्रसिद्ध था।

कोरकई इस उद्योग का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था।

7. संगम युग में व्यापार

संगम युग की आर्थिक समृद्धि का एक प्रमुख आधार व्यापार था। इस समय आंतरिक तथा विदेशी व्यापार दोनों का विकास हुआ।

व्यापारिक गतिविधियों में व्यापारी, शिल्पकार, परिवहनकर्ता और बंदरगाहों से जुड़े अनेक समुदाय भाग लेते थे।

(क) आंतरिक व्यापार

दक्षिण भारत के विभिन्न क्षेत्रों के बीच कृषि उत्पादों, पशुओं, वस्त्रों, नमक, धातुओं और अन्य वस्तुओं का आदान-प्रदान होता था।

ग्रामीण क्षेत्रों से खाद्यान्न नगरों तक पहुँचाया जाता था।

तटीय क्षेत्रों से नमक और मछलियाँ आंतरिक क्षेत्रों में भेजी जाती थीं।

राकेश मोहन नौटियाल

पर्वतीय क्षेत्रों से मसाले, शहद और वन उत्पाद प्राप्त होते थे।

(ख) विदेशी व्यापार

संगम युग में विदेशी व्यापार का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष रोमन साम्राज्य के साथ व्यापारिक सम्बन्ध थे।

दक्षिण भारत के व्यापारी भूमध्यसागरीय संसार से जुड़े हुए थे।

रोमन व्यापारी दक्षिण भारत के बंदरगाहों पर आते थे।

प्रमुख विदेशी व्यापारिक केन्द्र

1. मुजिरिस (मुचिरि)

यह चेर क्षेत्र का एक प्रमुख बंदरगाह था। इसकी पहचान सामान्यतः वर्तमान केरल के कोडुंगल्लूर क्षेत्र से की जाती है।

यह काली मिर्च और अन्य व्यापारिक वस्तुओं के निर्यात के लिए प्रसिद्ध था।

2. कावेरीपट्टनम (पुहार)

यह चोलों का प्रमुख बंदरगाह था। यहाँ से समुद्री व्यापार का संचालन होता था।

3. कोरकई

यह पाण्ड्य राज्य का प्रमुख बंदरगाह था। यह मोती व्यापार के लिए प्रसिद्ध था।

4. अरिकामेडु

यह एक महत्त्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र था, जहाँ से रोमन व्यापार के पुरातात्त्विक साक्ष्य प्राप्त हुए हैं।

व्यापार की प्रमुख वस्तुएँ

निर्यात की वस्तुएँ

1. काली मिर्च
2. मोती
3. हाथीदाँत
4. सूती वस्त्र
5. कीमती पत्थर
6. मसाले

राकेश मोहन नोटियाल

7. सुगंधित पदार्थ
8. मोती एवं शंख से निर्मित वस्तुएँ

आयात की वस्तुएँ

1. सोना
2. चाँदी
3. मदिरा
4. काँच के पात्र
5. मूंगे
6. धातु की वस्तुएँ
7. कुछ विलासिता की वस्तुएँ

रोमन व्यापार का महत्त्व

रोमन साम्राज्य के साथ व्यापार ने दक्षिण भारत की अर्थव्यवस्था को समृद्ध बनाया।

इससे—

- बंदरगाहों का विकास हुआ।
- नगरों की समृद्धि बढ़ी।
- व्यापारी वर्ग प्रभावशाली हुआ।
- शिल्प उत्पादन को प्रोत्साहन मिला।
- विदेशी मुद्रा एवं रोमन सिक्कों का आगमन हुआ।
- सांस्कृतिक सम्पर्क बढ़ा।

रोमन व्यापार से सम्बन्धित स्वर्ण एवं रजत सिक्कों की प्राप्ति इस व्यापार की महत्ता को स्पष्ट करती है।

8. संगम युग की सामाजिक स्थिति

संगम युग का समाज विविधतापूर्ण था। इसमें कृषि करने वाले कृषक, पशुपालक, शिकारी, मछुआरे, व्यापारी, शिल्पकार, सैनिक, कवि और धार्मिक समुदाय सम्मिलित थे।

गजेन्द्र मोहन नौटियाल

संगम साहित्य में तत्कालीन समाज की विभिन्न गतिविधियों का विस्तृत चित्रण मिलता है।

(क) सामाजिक संरचना

संगम समाज में व्यवसाय, निवास क्षेत्र और सामाजिक प्रतिष्ठा के आधार पर विभिन्न समुदायों का अस्तित्व था।

तोलकाप्पियम में समाज के कुछ वर्गों तथा सामाजिक भूमिकाओं का उल्लेख मिलता है।

संगम साहित्य में निम्नलिखित समुदायों और व्यवसायों का वर्णन मिलता है—

- वेल्लालर – कृषक समुदाय।
- आयर – पशुपालक।
- मरवर – योद्धा एवं युद्ध से जुड़े समुदाय।
- परतवर – मछुआरे और समुद्री गतिविधियों से जुड़े समुदाय।
- वणिगर – व्यापारी।
- पाणर – संगीतकार एवं गायक।
- पुलवर – कवि एवं विद्वान।

यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इन सभी समूहों को एक समान कठोर जाति व्यवस्था के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। संगम समाज में व्यवसाय, क्षेत्र और सामाजिक प्रतिष्ठा के आधार पर विभिन्न पहचानें विकसित थीं।

(ख) परिवार व्यवस्था

परिवार संगम समाज की मूल इकाई था।

परिवार में माता-पिता, पति-पत्नी और बच्चों की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी।

संगम साहित्य में प्रेम, विवाह, पारिवारिक सम्बन्धों और घरेलू जीवन का विस्तृत वर्णन मिलता है।

प्रेम और विवाह से सम्बन्धित कविताएँ तत्कालीन सामाजिक मान्यताओं को समझने में सहायक हैं।

(ग) विवाह व्यवस्था

संगम साहित्य में विवाह से पूर्व प्रेम सम्बन्धों तथा विवाह के बाद के पारिवारिक जीवन दोनों का वर्णन मिलता है।

प्रेम और विवाह से सम्बन्धित साहित्य को अकम परम्परा में स्थान प्राप्त है।

विवाह में परिवार की भूमिका महत्त्वपूर्ण थी।

सामाजिक रीति-रिवाजों और पारिवारिक मान्यताओं का पालन किया जाता था।

(घ) महिलाओं की स्थिति

संगम युग में महिलाओं की स्थिति का अध्ययन विशेष महत्त्व रखता है।

संगम साहित्य में महिलाओं को प्रेमिका, पत्नी, माता, कवयित्री और सामाजिक जीवन की सक्रिय सदस्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

महिलाओं ने साहित्यिक गतिविधियों में भी उल्लेखनीय योगदान दिया।

प्रमुख महिला कवयित्रियाँ

1. अव्वैयार

अव्वैयार संगम साहित्य की सबसे प्रसिद्ध महिला कवयित्रियों में से एक थीं।

उनकी कविताओं में नैतिकता, राजनीति, वीरता, सामाजिक जीवन और मानवीय मूल्यों का वर्णन मिलता है।

2. कक्कैपाडिनियार

ये संगम साहित्य की प्रसिद्ध महिला कवयित्री थीं।

3. नच्चेलैयार

इनका नाम भी संगम साहित्य की महिला कवयित्रियों में सम्मिलित है।

महिलाओं की प्रमुख भूमिकाएँ

- साहित्यिक रचनाओं में योगदान।
- कृषि एवं घरेलू गतिविधियों में भागीदारी।
- व्यापारिक एवं शिल्प गतिविधियों में सहयोग।
- पारिवारिक जीवन का संचालन।
- धार्मिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं में भागीदारी।

हालाँकि महिलाओं को साहित्यिक क्षेत्र में सम्मान प्राप्त था, लेकिन इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि समाज में स्त्री-पुरुष समानता पूर्ण रूप से स्थापित थी। सामाजिक जीवन में महिलाओं की स्थिति वर्ग, क्षेत्र और आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार भिन्न थी।

रक्षा मोहन मेटियाल

9. संगम युग में पाँच भौगोलिक-सांस्कृतिक प्रदेश

संगम साहित्य की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषताओं में से एक है प्रकृति और मानव जीवन के सम्बन्धों का विश्लेषण।

तोलकाप्पियम और संगम काव्य में तमिल प्रदेश को पाँच प्रमुख भौगोलिक-सांस्कृतिक क्षेत्रों में विभाजित किया गया है। इन्हें **तिणै (Tinai)** कहा जाता है।

प्रत्येक तिणै का सम्बन्ध किसी विशेष प्राकृतिक क्षेत्र, आजीविका, प्रेम की भावना और देवता से था।

तिणै	भौगोलिक क्षेत्र	प्रमुख व्यवसाय	प्रमुख देवता
कुरिंजी	पर्वतीय क्षेत्र	शिकार एवं वन उत्पाद	मुरुगन
मुल्लै	वन एवं चरागाह	पशुपालन	मायोन (विष्णु)
मरुतम	कृषि मैदान	खेती	इन्द्र
नेयदल	समुद्र तट	मछली पकड़ना एवं समुद्री व्यापार	वरुणन
पालै	शुष्क एवं कठिन मार्ग	यात्रा एवं संघर्ष	कोर्रवई

1. कुरिंजी

कुरिंजी पर्वतीय क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करता था।

यहाँ शिकार, वन उत्पादों का संग्रह और छोटे स्तर की कृषि प्रमुख गतिविधियाँ थीं।

इसका सम्बन्ध प्रेमियों के मिलन से भी था।

इस क्षेत्र के प्रमुख देवता मुरुगन थे।

2. मुल्लै

मुल्लै वन और चरागाह क्षेत्र का प्रतीक था।

यहाँ पशुपालन और दुग्ध उत्पादन प्रमुख व्यवसाय थे।

इसका सम्बन्ध प्रेम में प्रतीक्षा की भावना से था।

इस क्षेत्र के प्रमुख देवता मायोन अर्थात विष्णु थे।

3. मरुतम

मरुतम उपजाऊ कृषि भूमि का प्रतिनिधित्व करता था।

इस क्षेत्र में धान की खेती प्रमुख थी।

इसका सम्बन्ध पारिवारिक एवं दाम्पत्य जीवन की परिस्थितियों से था।

इस क्षेत्र के प्रमुख देवता इन्द्र थे।

4. नेयदल

नेयदल समुद्र तटीय क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करता था।

यहाँ मछली पकड़ना, नमक बनाना और समुद्री व्यापार प्रमुख व्यवसाय थे।

इसका सम्बन्ध प्रेम में विरह और प्रतीक्षा से था।

इस क्षेत्र के प्रमुख देवता वरुणन थे।

5. पालै

पालै शुष्क और कठिन भौगोलिक परिस्थितियों का प्रतीक था।

यहाँ यात्रा, संघर्ष और कठिन जीवन परिस्थितियों का वर्णन मिलता है।

इसका सम्बन्ध प्रेमियों के अलगाव और लंबी यात्रा से था।

इस क्षेत्र की प्रमुख देवी कोर्रवई थीं।

पाँच तिणै का ऐतिहासिक महत्व

पाँच तिणै की अवधारणा से निम्नलिखित तथ्य स्पष्ट होते हैं—

1. प्राचीन तमिल समाज प्रकृति से घनिष्ठ रूप से जुड़ा था।
2. भौगोलिक परिस्थितियों के अनुसार आर्थिक गतिविधियाँ विकसित हुई थीं।
3. प्रत्येक क्षेत्र की अपनी सांस्कृतिक पहचान थी।
4. साहित्य में प्राकृतिक परिवेश और मानवीय भावनाओं का समन्वय था।
5. पर्यावरण और आजीविका के बीच गहरा सम्बन्ध था।

यह संगम साहित्य की एक विशिष्ट सांस्कृतिक एवं साहित्यिक उपलब्धि थी।

10. संगम युग का धार्मिक जीवन

संगम युग का धार्मिक जीवन विविधतापूर्ण था। इस समय स्थानीय देवताओं की पूजा के साथ-साथ वैदिक धार्मिक परम्पराओं और अन्य धार्मिक विचारधाराओं का भी प्रभाव था।

यक्ष मोहन मौर्या

धार्मिक जीवन में प्रकृति, वीरता, उर्वरता और लोकविश्वासों का महत्त्व था।

(क) मुरुगन की पूजा

मुरुगन संगम युग के प्रमुख देवताओं में से एक थे।

उन्हें पर्वतीय क्षेत्रों के देवता के रूप में विशेष महत्त्व प्राप्त था।

बाद में उनका सम्बन्ध कार्तिकेय और स्कन्द की धार्मिक परम्पराओं से स्थापित हुआ।

(ख) मायोन की पूजा

मायोन का सम्बन्ध विष्णु से जोड़ा जाता है।

मुल्लै क्षेत्र में उनकी पूजा का उल्लेख मिलता है।

(ग) कोर्रवई की पूजा

कोर्रवई युद्ध और विजय से सम्बन्धित देवी थीं।

उन्हें बाद की दुर्गा परम्परा से भी जोड़ा गया है।

(घ) इन्द्र एवं वरुण की पूजा

मरुतम क्षेत्र में इन्द्र की तथा नेयदल क्षेत्र में वरुणन की पूजा का उल्लेख मिलता है।

ये देवता कृषि, वर्षा और समुद्री जीवन से जुड़े थे।

(ङ) वीर पूजा

संगम समाज में वीरता को विशेष महत्त्व दिया जाता था।

युद्ध में वीरगति प्राप्त करने वाले योद्धाओं की स्मृति में वीर पत्थर स्थापित किए जाते थे।

इन्हें वीरक्कल अथवा नडुकल कहा जाता था।

इन स्मारकों से तत्कालीन समाज में वीरता और बलिदान के महत्त्व का पता चलता है।

(च) जैन और बौद्ध धर्म

संगम युग में जैन और बौद्ध धार्मिक परम्पराओं का भी प्रसार हुआ।

तमिलनाडु में प्राप्त जैन शैलाश्रय और तमिल-ब्राह्मी अभिलेख जैन धर्म की उपस्थिति के प्रमाण हैं।

बौद्ध धर्म का प्रभाव भी दक्षिण भारत के व्यापारिक केन्द्रों और नगरीय क्षेत्रों में दिखाई देता है।

बाद के तमिल महाकाव्यों में जैन और बौद्ध विचारधाराओं का उल्लेख विशेष रूप से मिलता है।

राकेश मौर्य नौटियाल

11. संगम युग की सांस्कृतिक स्थिति

संगम युग दक्षिण भारत के सांस्कृतिक विकास का महत्त्वपूर्ण काल था।

इस समय साहित्य, संगीत, नृत्य, कला, वास्तुकला और धार्मिक परम्पराओं में उल्लेखनीय प्रगति हुई।

(क) साहित्यिक विकास

तमिल साहित्य का व्यवस्थित विकास संगम युग की सबसे बड़ी उपलब्धि थी।

इस काल में कवियों ने प्रेम, युद्ध, प्रकृति, नैतिकता, राजनीति और सामाजिक जीवन को अपनी रचनाओं का विषय बनाया।

संगम कवियों ने मानव जीवन को वास्तविक परिस्थितियों के आधार पर प्रस्तुत किया।

(ख) संगीत

संगम साहित्य में संगीत का विस्तृत उल्लेख मिलता है।

संगीत तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग था।

प्रमुख वाद्ययंत्रों में शामिल थे—

- याल (तार वाद्य)
- मुरसु (ढोल)
- परई
- कुजल (बाँसुरी)

पाणर नामक संगीतकार और गायक विभिन्न राजदरबारों तथा सामाजिक आयोजनों में अपनी कला का प्रदर्शन करते थे।

(ग) नृत्य

संगम साहित्य में नृत्य की विभिन्न परम्पराओं का उल्लेख मिलता है।

नृत्य धार्मिक आयोजनों, उत्सवों और राजदरबारों का महत्त्वपूर्ण हिस्सा था।

कूत्तु नामक नाट्य एवं नृत्य परम्परा का विशेष महत्त्व था।

(घ) कला एवं वास्तुकला

संगम युग में स्थापत्य और कला का विकास हुआ।

राकेश मोहन नौटियाल

हालाँकि इस काल के अनेक निर्माण लकड़ी, मिट्टी और अन्य नाशवान सामग्रियों से बने होने के कारण आज उपलब्ध नहीं हैं।

पुरातात्त्विक स्थलों से प्राप्त अवशेषों में शामिल हैं—

- मृद्भांड
- मनके
- आभूषण
- धातु के उपकरण
- आवासीय संरचनाएँ
- जल निकासी व्यवस्था

इनसे शिल्पकला और नगरीय जीवन के विकास का पता चलता है।

(ङ) नगरों का विकास

संगम युग में अनेक नगर व्यापार और प्रशासन के केन्द्र के रूप में विकसित हुए।

प्रमुख नगर थे—

1. मदुरै
2. उरैयूर
3. कावेरीपट्टनम
4. वंजी
5. कांची

मदुरै पाण्ड्य राज्य का प्रमुख राजनीतिक और सांस्कृतिक केन्द्र था।

उरैयूर चोलों का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था।

कावेरीपट्टनम समुद्री व्यापार के लिए प्रसिद्ध था।

12. संगम युग में शिक्षा एवं ज्ञान-विज्ञान

संगम युग में शिक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान था।

राकेश मोहन नोटियाल

संगम साहित्य से ज्ञात होता है कि तमिल समाज में भाषा, साहित्य, संगीत, काव्य और व्याकरण का अध्ययन किया जाता था।

कवियों और विद्वानों को राजाओं से संरक्षण मिलता था।

शिक्षा की प्रमुख विशेषताएँ

1. तमिल भाषा और व्याकरण का अध्ययन।
2. काव्य एवं साहित्य की रचना।
3. संगीत और नृत्य का प्रशिक्षण।
4. धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा।
5. युद्ध एवं सैन्य प्रशिक्षण।
6. व्यापार और व्यावसायिक ज्ञान।

तोलकाप्पियम तमिल व्याकरण एवं साहित्यिक परम्परा के विकास का महत्त्वपूर्ण प्रमाण है।

संगम साहित्य में अनेक कवियों और कवयित्रियों की रचनाएँ मिलती हैं, जो इस बात का संकेत देती हैं कि साहित्यिक गतिविधियाँ समाज के विभिन्न वर्गों तक पहुँची हुई थीं।

13. संगम युग में नगर एवं नगरीय जीवन

संगम युग में नगरों का विकास आर्थिक एवं राजनीतिक गतिविधियों के कारण हुआ।

राजधानियाँ, व्यापारिक केन्द्र और बंदरगाह नगरीय जीवन के प्रमुख आधार थे।

मदुरै

मदुरै पाण्ड्य राज्य की राजधानी थी।

यह साहित्य, व्यापार, धार्मिक गतिविधियों और प्रशासन का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था।

मदुरैक्कांजी में मदुरै के बाजारों, सड़कों, राजमहल और सामाजिक जीवन का वर्णन मिलता है।

उरैयूर

उरैयूर चोलों का एक प्रमुख राजनीतिक केन्द्र था।

यह वस्त्र उत्पादन और व्यापार के लिए भी प्रसिद्ध था।

कावेरीपट्टनम

कावेरीपट्टनम अथवा पुहार चोलों का प्रमुख समुद्री बंदरगाह था।

यहाँ विदेशी व्यापारी आते थे और विभिन्न वस्तुओं का आयात-निर्यात होता था।

वंजी

वंजी को चेर राजवंश की राजधानी के रूप में साहित्यिक परम्परा में महत्त्व प्राप्त है। इसकी सटीक भौगोलिक पहचान को लेकर विद्वानों में मतभेद हैं।

14. संगम युग में युद्ध एवं वीरता की परम्परा

संगम युग के साहित्य में युद्ध और वीरता का विशेष महत्त्व है।

राजाओं की प्रतिष्ठा उनके सैन्य अभियानों, विजय और दानशीलता पर आधारित थी।

संगम साहित्य में युद्धों के विभिन्न पक्षों का वर्णन मिलता है।

युद्ध के प्रमुख कारण

1. राज्य विस्तार।
2. राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करना।
3. व्यापारिक केन्द्रों पर अधिकार।
4. क्षेत्रीय विवाद।
5. प्रतिष्ठा और सम्मान की रक्षा।

वीरता का महत्व

संगम समाज में वीरता को अत्यधिक सम्मान दिया जाता था।

युद्ध में वीरगति प्राप्त करना सम्मान की बात मानी जाती थी।

योद्धाओं की स्मृति में वीर पत्थर स्थापित किए जाते थे।

पुरनानूरु में वीरता, युद्ध और बलिदान का विस्तृत चित्रण मिलता है।

इस साहित्य से स्पष्ट होता है कि संगम युग का राजनीतिक जीवन युद्ध और सैन्य शक्ति से गहराई से प्रभावित था।

15. संगम युग के पतन के कारण

सचिन मोहन नौटियाल

तीसरी शताब्दी ईस्वी के आसपास संगम युग की राजनीतिक एवं साहित्यिक परम्पराओं में परिवर्तन दिखाई देने लगता है।

इस परिवर्तन के पीछे कई कारण थे।

1. राजनीतिक संघर्ष

चेर, चोल और पाण्ड्य राजवंशों के बीच निरन्तर संघर्ष होते रहते थे।

इन संघर्षों ने क्षेत्रीय राजनीतिक स्थिरता को प्रभावित किया।

2. स्थानीय शासकों की शक्ति

स्थानीय सरदारों और छोटे शासकों की राजनीतिक शक्ति भी कई बार प्रमुख राजवंशों के लिए चुनौती बनती थी।

3. व्यापारिक परिवर्तनों का प्रभाव

रोमन साम्राज्य के साथ व्यापारिक सम्बन्धों में समय के साथ परिवर्तन आया।

इससे कुछ प्रमुख व्यापारिक केन्द्रों और बंदरगाहों की आर्थिक गतिविधियाँ प्रभावित हुईं।

हालाँकि रोमन व्यापार में परिवर्तन को संगम परम्परा के अन्त का एकमात्र कारण नहीं माना जा सकता।

4. कलभ्रों का उदय

दक्षिण भारत के इतिहास में कलभ्रों का उदय एक महत्त्वपूर्ण घटना थी।

लगभग तीसरी से छठी शताब्दी ईस्वी के बीच तमिल क्षेत्र में कलभ्रों की राजनीतिक गतिविधियों का उल्लेख मिलता है।

इस काल को कभी-कभी तमिल इतिहास का कलभ्र अंतराल कहा जाता है।

कलभ्रों के शासन और उनके राजनीतिक स्वरूप के विषय में ऐतिहासिक स्रोत सीमित हैं।

5. सामाजिक एवं धार्मिक परिवर्तन

इस काल में जैन, बौद्ध और ब्राह्मणical धार्मिक परम्पराओं के प्रभाव में परिवर्तन आया।

सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन में नई धार्मिक और राजनीतिक व्यवस्थाएँ विकसित हुईं।

6. नई राजनीतिक शक्तियों का उदय

बाद के काल में पल्लवों, पाण्ड्यों तथा अन्य क्षेत्रीय शक्तियों का उदय हुआ।

राकेश मोहन चौरसिया

इससे दक्षिण भारत की राजनीतिक संरचना में परिवर्तन आया।

निष्कर्ष

संगम युग का अन्त किसी एक घटना या युद्ध के कारण नहीं हुआ। इसके पीछे राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक परिवर्तनों की संयुक्त भूमिका थी।

16. संगम युग का ऐतिहासिक महत्त्व एवं योगदान

संगम युग दक्षिण भारतीय इतिहास का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण काल था। इसका योगदान केवल तमिल साहित्य तक सीमित नहीं था, बल्कि इसने दक्षिण भारत की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परम्पराओं को भी प्रभावित किया।

इसके प्रमुख योगदान निम्नलिखित हैं—

1. तमिल भाषा का विकास

संगम युग में तमिल भाषा को साहित्यिक अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम बनाया गया।

2. साहित्यिक परम्परा का निर्माण

एट्टुत्तोकै और पत्तुप्पाट्टु जैसे संग्रह तमिल साहित्य की अमूल्य धरोहर हैं।

3. राजनीतिक व्यवस्था का विकास

चेर, चोल और पाण्ड्य राजवंशों ने दक्षिण भारत में क्षेत्रीय राजनीतिक संगठनों को मजबूत किया।

4. कृषि का विस्तार

कावेरी घाटी सहित विभिन्न क्षेत्रों में कृषि एवं सिंचाई का विकास हुआ।

5. समुद्री व्यापार का विकास

दक्षिण भारत का रोमन साम्राज्य और अन्य विदेशी क्षेत्रों के साथ व्यापारिक सम्पर्क स्थापित हुआ।

6. नगरीकरण

मदुरै, उरैयूर और कावेरीपट्टनम जैसे नगरों का विकास हुआ।

7. सामाजिक विविधता

संगम साहित्य में विभिन्न व्यवसायों, सामाजिक समूहों और क्षेत्रीय समुदायों का विस्तृत चित्रण मिलता है।

8. महिलाओं का साहित्यिक योगदान

राकेश मोहन नौटियाल

अव्वैयार जैसी महिला कवयित्रियों ने तमिल साहित्य को समृद्ध बनाया।

9. धार्मिक समन्वय

स्थानीय देवताओं, प्रकृति पूजा और विभिन्न धार्मिक परम्पराओं का विकास हुआ।

10. पर्यावरणीय दृष्टिकोण

पाँच तिणै की अवधारणा से प्रकृति और मानव जीवन के बीच सम्बन्धों की गहरी समझ का परिचय मिलता है।

17. संगम युग का भारतीय इतिहास में स्थान

भारतीय इतिहास में संगम युग का विशेष स्थान है। यह उस समय की दक्षिण भारतीय सभ्यता का प्रतिनिधित्व करता है जब उत्तर भारत में मौर्योत्तर और गुप्तकालीन राजनीतिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन हो रहे थे।

संगम युग के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत का इतिहास केवल उत्तर भारत की राजनीतिक घटनाओं तक सीमित नहीं था।

दक्षिण भारत में भी स्वतंत्र राजनीतिक शक्तियाँ, विकसित अर्थव्यवस्था, समृद्ध साहित्यिक परम्परा और अंतरराष्ट्रीय व्यापारिक सम्बन्ध मौजूद थे।

इस युग की कुछ विशेषताएँ इसे भारतीय इतिहास में विशिष्ट बनाती हैं—

पहली, यह तमिल भाषा के प्रारम्भिक साहित्यिक विकास का महत्त्वपूर्ण चरण था।

दूसरी, इस काल में दक्षिण भारत का भूमध्यसागरीय संसार के साथ व्यापारिक सम्पर्क स्थापित था।

तीसरी, यहाँ कृषि, पशुपालन, समुद्री व्यापार और शिल्प उद्योग का समन्वित विकास हुआ।

चौथी, संगम साहित्य में सामान्य मानव जीवन, प्रेम, प्रकृति, युद्ध और सामाजिक सम्बन्धों का यथार्थवादी चित्रण मिलता है।

पाँचवीं, पाँच तिणै की अवधारणा भारतीय साहित्य और पर्यावरणीय चिंतन की विशिष्ट उपलब्धि है।

18. निष्कर्ष

संगम युग दक्षिण भारत के प्राचीन इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण और गौरवशाली अध्याय है। यह काल तमिल सभ्यता के साहित्यिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विकास का प्रतिनिधित्व करता है।

इस युग में चेर, चोल और पाण्ड्य जैसे शक्तिशाली राजवंशों का उदय हुआ। इन राजवंशों ने दक्षिण भारत में राजनीतिक व्यवस्था को विकसित किया और साहित्य, कला तथा संस्कृति को संरक्षण प्रदान किया।

संगम साहित्य इस युग की सबसे बड़ी उपलब्धि है। एट्टुत्तोकै, पत्तुप्पाट्टु और तोलकाप्पियम जैसी रचनाओं के माध्यम से तत्कालीन समाज के विभिन्न पक्षों की जानकारी प्राप्त होती है। पुरनानूरु में वीरता और राजनीति, अकनानूरु में प्रेम और पारिवारिक जीवन तथा मदुरैक्कांजी में नगरीय एवं आर्थिक जीवन का सुंदर चित्रण मिलता है।

आर्थिक दृष्टि से यह काल कृषि, पशुपालन, शिल्प उद्योग और समुद्री व्यापार के विकास के लिए जाना जाता है। मुजिरिस, कावेरीपट्टनम और कोरकई जैसे बंदरगाहों ने दक्षिण भारत को विदेशी व्यापार से जोड़ा। रोमन साम्राज्य के साथ व्यापारिक सम्बन्धों ने दक्षिण भारत की आर्थिक समृद्धि में योगदान दिया।

सामाजिक दृष्टि से संगम युग में विभिन्न व्यवसायों और समुदायों का अस्तित्व था। महिलाओं ने साहित्यिक गतिविधियों में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। धार्मिक जीवन में स्थानीय देवताओं, प्रकृति पूजा, वीर पूजा तथा जैन और बौद्ध परम्पराओं का प्रभाव दिखाई देता है।

इस युग की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता पाँच तिणै की अवधारणा है, जिसमें मानव जीवन, प्रकृति, भौगोलिक परिस्थितियों और आर्थिक गतिविधियों के बीच गहरे सम्बन्ध को प्रदर्शित किया गया है।

अंततः कहा जा सकता है कि संगम युग केवल तमिल साहित्य का स्वर्णिम अध्याय नहीं था, बल्कि यह प्राचीन भारतीय सभ्यता की बहुलतावादी, समृद्ध और क्षेत्रीय विविधताओं से युक्त परम्परा का भी महत्त्वपूर्ण उदाहरण था। इसने दक्षिण भारत को भारतीय उपमहाद्वीप के साथ-साथ अंतरराष्ट्रीय व्यापारिक एवं सांस्कृतिक संसार से जोड़ने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

राकेश सोनल चौरसिया